जैन धर्म दर्शन

(भाग - 1)

प्रकाशक : आदिनाथ जैन ट्रस्ट, चूलै, चेन्नई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म दर्शन
(भाग -1)

मार्गदर्शक : डॉ. सागरमलजी जैन
प्राणी मित्र श्री कुमारपालभाई वी. शाह

संकलनकर्ता : डॉ. निर्मला जैन
कु. राजुल बोरुन्दिया

* प्रकाशक *
आदिनाथ जैन ट्रस्ट
चूलै, चेन्नई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म दर्शन भाग - 1

प्रथम संस्करण : अगस्त 2010
प्रतियाँ : 3000

प्रकाशक एवं परीक्षा फार्म प्राप्ति स्थल :

आदिनाथ जैन ट्रस्ट

21, वी.वी.कोईल स्ट्रीट
चूलै, चेन्नई - 600 112.
फोन : 044-2669 1616, 2532 2223

मुद्रक :

नवकार प्रिंटर्स

9, ट्रिवेलियन बेसिन स्ट्रीट,
साहुकारपेट, चेन्नई - 600 079
फोन : 2529 2233, 98400 98686

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

✽ अनुक्रमणिका ✽

✽ किञ्चित वक्तव्य 1

✽ अनुमोदना के हस्ताक्षर 3

✽ प्रकाशकीय 4

1 **जैन इतिहास**

जैन धर्म का परिचय 6

काल चक्र 12

भगवान महावीर का जीवन चरित्र 20

2 **जैन तत्त्व मीमांसा**

तत्त्व की परिभाषा 43

नव तत्त्व का बोध 46

जीव तत्त्व 49

जीव के भेद 51

3 **जैन आचार मीमांसा**

मानवजीवन की दुर्लभता 68

सप्त व्यसन 74

4 **जैन कर्म मीमांसा**

कर्म का अस्तित्व 81

आत्मा कर्म बंध की पद्धति 82

कर्म बंध के 5 हेतु 86

कर्म बंध के चार प्रकार 87

5 **सूत्रार्थ**

नमस्कार महामंत्र 90

पंचिंदिय सूत्र 96

शुद्ध स्वरुप

खमासमण सूत्र 97

सुगुरु को सुखशाता पूछा 97

अब्भूट्ठिओ सूत्र 98

तिक्खुत्तो का पाठ 99

6 **महापुरुष की जीवन कथाएं**

गुरु गौतम स्वामी 101

महासती चंदनबाला 104

पुण्यिा श्रावक 106

सुलसा श्राविका 108

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारी बात

दि. 5.7.1979 के मंगल दिवस पर चूलै जिनालय में भगवान आदिनाथ के प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर स्व. **श्री अमरचंदजी कोचर** द्वारा स्थापित **श्री आदिनाथ जैन मंडल** अपनी सामाजिक गतिविधियों को आदिनाथ जैन ट्रस्ट के नाम से पिछले 31 वर्षों से प्रभु महावीर के बताये मार्ग पर निरंतर प्रभु भक्ति, जीवदया, अनुकंपा, मानवसेवा, साधर्मिक भक्ति आदि जिनशासन के सेवा कार्यों को करता आ रहा है। ट्रस्ट के कार्यों को सुचारु एवं स्थायी रुप देने के लिए सन् 2001 में चूलै मेन बाजार में (पोस्ट ऑफिस के पास) में 2800 वर्ग फुट की भूमि पर बने त्रिमंजिला भवन **'आदिनाथ जैन सेवा केन्द्र'** की स्थापना की गई। भवन के परिसर में प्रेम व करुणा के प्रतीक भगवान महावीर स्वामी की दर्शनीय मूर्ति की स्थापना करने के साथ करीब 7 लाख लोगों की विभिन्न सेवाएँ की जिसमें करीब 1 लाख लोगों को शाकाहारी बनाने का अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ है।

आदिनाथ जैन सेवा केन्द्र में स्थाई रुप से हो रहे निःशुल्क सेवा कार्यों की एक झलक :

- 10 विकलांग शिविरों का आयोजन करने के पश्चात अब स्थायी रुप से विकलांग कृत्रिम लिंब सहायता केन्द्र की स्थापना जिसमें प्रतिदिन आने वाले विकलांगों को निःशुल्क कृत्रिम पैर, कृत्रिम हाथ कैलिपरस्, क्लचेज, व्हील चैर, ट्राई - साईकिल आदि देने की व्यवस्था।
- आंखों से लाचार लोगों की अंधेरी दुनिया को फिर से जगमगाने के लिए एक स्थायी फ्री आई क्लिनिक की व्यवस्था जिसमें निःशुल्क आंखों का चेकउप, आंखों का ऑपरेशन, नैत्रदान, चश्मों का वितरण आदि।
- करीबन 100 साधर्मिक परिवारों को प्रतिमाह निःशुल्क अनाज वितरण एवं जरुरतमंद भाईयों के उचित व्यवसाय की व्यवस्था।
- आर्थिक रुप से जरुरतमंद बहनों के लिए स्थायी रुप से निःशुल्क सिलाई एवं कसीदा ट्रेनिंग क्लासस एवं बाद में उनके उचित व्यवसाय की व्यवस्था।
- आम जनता की स्वास्थ्य सुरक्षा हेतु एक फ्री जनरल क्लिनिक जिसमें हर रोज 50 से ज्यादा मरीजों का निशुल्क चेकअप, दवाई वितरण।
- प्रतिदिन करीब 200 असहाय गरीब लोगों को निशुल्क या मात्र 3 रुपयों में शुद्ध सात्विक भोजन की व्यवस्था।
- दिमागी रुप से अस्थिर दुःखियों के लिए प्रतिदिन निःशुल्क भोजन।
- निःशुल्क एक्यूपंक्चर क्लिनिक।
- जरुरतमंद विद्यार्थियों को निःशुल्क स्कूल फीस, पुस्तकें एवं पोशाक वितरण।
- रोज योगा एवं ध्यान शिक्षा।
- जैनोलॉजी में बी.ए. एवं एम.ए. कोर्स ।
- आपातकानीन अवसर में 6 घंटों के अंदर राहत सामग्री पहुंचाने की अद्भुत व्यवस्था।
- स्पोकन ईंगलिश क्लास ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदिनाथ जिनशासन सेवा संस्थान में होने वाली सम्भवित योजनाओं का संक्षिप्त विवरण

हाल ही में हमारे ट्रस्ट ने चूलै के मालू भवन के पास 8000 **वर्ग फुट** का विशाल भुखंड खरीदकर **'आदिनाथ जिनशासन सेवा संस्थान'** के नाम से निम्न शासन सेवा के कार्य करने का दृढ संकल्प करता है।

✲ विशाल ज्ञानशाला (शिक्षा प्रकल्प योजना)

- ✲ जैन धर्म के उच्च हितकारी सिद्धांतों के प्रचार - प्रसार के लिए आवासीय पाठशाला...
- ✲ जिसमें श्रद्धावान मुमुक्षु, अध्यापक, विधिकारक, मंदिर सेवक (पुजारी), संगीतकार, पर्युषण आराधक इत्यादि तैयार किए जाएंगे।
- ✲ निरंतर 24 घंटे पिपासु साधर्मिकों की ज्ञान सुधा शांत करने उपलब्ध होंगे समर्पित पंडिवर्य व अनेक गहन व गंभीर पुस्तकों से भरा पुस्तकालय।
- ✲ बालक - बालिकाओं व युवानों को प्रेरित व पुरस्कारित कर धर्म मार्ग में जोडने का हार्दिक प्रयास।
- ✲ जैनोलॉजी में बी.ए., एम.ए. व पी.एच.डी. का प्रावधान।

✲ साधु-साध्वीजी भगवंत वैयावच्च (कर्त्तव्य प्रकल्प योजना वात्सल्य धाम साधु-साध्वी महान)

- ✲ जिनशासन को समर्पित साधु-साध्वी भगवंत एवं श्रावकों के वृद्ध अवस्था या बिमारी में जीवन पर्यंत उनके सेवा भक्ति का लाभ लिया जाएगा।
- ✲ साधु-साध्वी भगवंत के उपयोग निर्दोष उपकरण भंडार की व्यवस्था।
- ✲ ज्ञान-ध्यान में सहयोग।
- ✲ ऑपरेशन आदि बडी बिमारी में वैयावच्च।

✲ वर्षीतप पारणा व आयंबिल खाता (तप प्रकल्प योजना)

- ✲ विश्व को आश्चर्य चकित करदे ऐसे महान तप के तपस्वीयसों के तप में सहयोगी बनने सैंकडों तपस्वियों के शाता हेतु सामूहिक वर्षीतप (बियासणा), 500 आयंबिल तप व्यवस्था व आयंबिल खाते की भव्य योजना।

✲ धर्मशाला (वात्सल्य प्रकल्प योजना)

- ✲ चिकित्सा, शिक्षा, सार्वजनिक कार्य एवं व्यापार आदि हेतु दूर - सुदूर देशों से पधारने वाले भाईयों के लिए उत्तम अस्थाई प्रवास व भोजन व्यवस्था।

✲ शुद्ध सात्विक जैन भोजनशाला (अपना घर)

- ✲ किसी भी धर्म प्रेमी को प्रतिकूलता, बिमारी या अन्तराय के समय शुद्ध भोजन की चिंता न रहे इस उद्देश्य से बाहर गाँव व चेन्नई के स्वधर्मी भाईयों के लिए उत्तम, सात्विक व स्वास्थ वर्धक जिनआज्ञामय शुद्ध भोजन की व्यवस्था।

✲ साधर्मिक स्वावलम्बी (पुण्य प्रकल्प योजना)

- ✲ हमारे दैनिक जीवन में काम अपने वाली शुद्ध सात्विक एवं जैन विधिवत् रुप से तैयार की गई वस्तुओं की एक जगह उपलब्धि कराना, साधर्मिक परिवारों द्वारा तैयार की गई वस्तुएँ खरीदकर उन्हें स्वावलंबी बनाना एवं स्वधर्मीयों को गृहउद्योग के लिए प्रेरित कर सहयोग करना इत्यादि।

✲ जैनोलॉजी कोर्स (शिक्षा प्रकल्प योजना) Certificate & Diploma Degree in Jainology

- ✲ जैन सिद्धांतों एवं तत्वज्ञान को जन - जन तक पहुँचाने का प्रयास, दूर - सुदूर छोटे गाँवों में जहाँ गुरु भगवंत न पहुँच पाये ऐसे जैनों को पुन: धर्म से जोडने हेतु 6 - 6 महीने के Correspondence Course तैयार किया गये हैं। हर 6 महीने में परीक्षा के पूर्व त्रिदिवसीय शिविर द्वारा सम्यक् ज्ञान की ज्योति जगाने का अद्भुत संकल्प।

✲ जीवदया प्राणी प्रेम प्रकल्प योजना

- ✲ मानव सेवा के साथ - साथ मूक जानवरों के प्रति प्रेम व अनुकम्पा का भाव मात्र जिनशासन सिखलाता है। जिनशासन के मूलाधार अहिंसा एवं प्रेम को कार्यान्वित करने निर्माण होंगे 500 कबुतर घर व उनके दाना-पानी सुरक्षा आदि की संपूर्ण व्यवस्था।

मोहन जैन
सचिव आदिनाथ जैन ट्रस्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किञ्चित वक्तव्य

प्रस्तुत कृति की रचना जन सामान्य को जैन धर्म और दर्शन का ज्ञान कराने के उद्देश्य से निर्मित पाठ्यक्रम के अध्यापन हेतु किया गया है। इसमें जैन धर्म और दर्शन के समग्र अध्ययन को छह भागों में विभाजित किया गया है।

1. इतिहास 2. तत्त्वमीमांसा 3. आचार मीमांसा 4. कर्म मीमांसा 5. धार्मिक क्रियाओं से संबंधित सूत्र और उनके अर्थ और 6. धार्मिक महापुरुषों के चरित्र एवं कथाएं आयोजकों ने इस संपूर्ण पाठ्यक्रम को ही इन छह विभागों में विभाजित किया है और यह प्रयत्न किया है कि प्रत्येक अध्येता को जैन धर्म से संबंधित इन सभी पक्षों का ज्ञान कराया जाए। यह सत्य है कि इन छःहों विभागों के अध्ययन से जैन धर्म का ज्ञान समग्रता से हो सकता है लेकिन मेरी दृष्टि से प्रस्तुत पाठ्यक्रम में कमी यह है कि प्रत्येक वर्ष के लिए हर विभाग के कुछ अंश लिए गये है और प्रस्तुत कृति का प्रणयन भी इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर किया गया है और इसलिए जैन धर्म दर्शन के कुछ - कुछ अंश प्रत्येक पुस्तक में रखे गए है। डॉ. निर्मला जैन ने इसी पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष के लिए इस कृति का प्रणयन किया है। पाठ्यक्रम को दृष्टिगत रखते हुए जो भी लिखा गया है वह जैन धर्म दर्शन के गंभीर अध्ययन को दृष्टिगत रखकर लिखा गया है।

प्रस्तुत कृति के प्रारंभ में जैन धर्म के इतिहास खण्ड का विवेचन किया गया है। इसके प्रारंभ में धर्मशब्द की व्याख्या और स्वरुप का प्रतिपादन किया गया है। उसके पश्चात् जैन धर्म की प्राचीनता को साहित्यिक और पुरातात्त्विक आधारों से सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। इसके पश्चात् जैनों की कालचक्र की अवधारणा को आगामिक मान्यतानुसार प्रस्तुत किया गया उसके बाद जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर की जीवन गाथा को अति विस्तार से परंपरा के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

तत्त्व मीमांसा की चर्चा करते हुए नवतत्त्वों की सामान्य जानकारी के बाद विस्तार से जीव तत्व का वर्णन किया गया है। इसमें जीवतत्व के संबंध में आगमिक और पारम्परिक अवधारणा की विस्तृत चर्चा तो हुई है और जो आगमिक मान्यता के अनुसार प्रमाणिक भी है।

उसके पश्चात् प्रस्तुत कृति मानव जीवन की दुर्लभता की चर्चा करती है, यह अंश निश्चय ही सामान्य पाठकों के लिए प्रेरणादायक और युवकों के लिए रुचिकर बना है यह स्वीकार किया जा सकता है। श्रावक धर्म के मूल कर्त्तव्यों की सांकेतिक चर्चा भी उचित प्रतीत होती है। आगे सप्तव्यसनों और उनके दुष्परिणामों का जो आंकलन किया गया है वह आधुनिक युग में युवकों में जैनत्व की भावनाओं को जगाने में प्रासंगिक सिद्ध होगा। ऐसी मेरी मान्यता है । आगे कर्म मीमांसा के अन्तर्गत कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करने की आवश्यकता द्रव्य कर्म और भावकर्म का स्वरुप, कर्म की विभिन्न्ना अवस्थाएं, कर्मबंध के कारण तथा कर्मबंध के चार सिद्धांतों की चर्चा की गई है जो जैन कर्म सिद्धान्त को समझने में सहायक होगी ऐसा माना जा सकता है।

आगे सूत्र और उनके अर्थ को स्पष्ट करते हुए नमस्कार मंत्र गुरुवंदन सूत्र आदि की चर्चा की गई है। इसमें प्राकृत का जो हिंदी अनुवाद किया गया है वह प्रामाणिक है। आज धार्मिक क्रियाओं के संदर्भ में जो भी जानकारी दी जाय वह अर्थबोध और वैज्ञानिक दृष्टि से युक्त हो, यह आवश्यक है। संकलन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्ता ने इस संदर्भ में जो प्रयत्न किया है वह सार्थक है अंत में प्रथम वर्ष के हेतु निर्धारित पाठ्यक्रम में निर्दिष्ट गौतमस्वामी, चंदनबाला, पुणियाश्रावक आदि से संबंधित कथाएं दी गई है। इस प्रकार यह संपूर्ण कृति आयोजकों द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के लक्ष्य को लेकर लिखी गई है।

अंत में मैं यही कहना चाहूंगा कि यह प्रारंभिक प्रयत्न समग्रता को प्राप्त हो। साथ ही लेखिका को इस प्रयत्न के हेतू धन्यवाद भी देता हूँ। लेखन में स्पष्टता के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ

डॉ. सागरमल जैन
संस्थापक निर्देशक
प्राच्य विद्यापीठ
शाजापुर, मध्यप्रदेश

✻ प्रस्तुत प्रकाशन के अर्थ सहयोगी ✻

ARIHANT

Umed Bhavan, #265, Linghi Chetty Street, Chennai - 1.

&

भवरीबाई जुगराजजी बाफना

65/66, M.S. Koil Street, Royapuram, Chennai - 600 013.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुमोदना के हस्ताक्षर

कुमारपाल वी.शाह
कलिकुंड, ढोलका

जैन दर्शन धर्म समस्त विश्व का, विश्व के लिए और विश्व के स्वरुप को बताने वाला दर्शन है। जैन दर्शन एवं कला बहुत बहुत प्राचीन है। जैन धर्म श्रमण संस्कृति की अद्भूत फुलवारी है इसमें ज्ञान योग, कर्म योग, अध्यात्म और भक्ति योग के फूल महक रहे हैं।

परमात्म प्रधान, परलोक प्रधान और परोपकार प्रधान जैन धर्म में नये युग के अनुरुप, चेतना प्राप्त कराने की संपूर्ण क्षमता भरी है। क्योंकि जैन दर्शन के प्रवर्तक सर्वदर्शी, सर्वज्ञ वितराग देवाधिदेव थे।

जैन दर्शन ने ''यथास्थिस्थितार्थ वादि च...'' संसार का वास्तिवक स्वरुप बताया है। सर्वज्ञ द्वारा प्रवर्तित होने से सिद्धांतों में संपूर्ण प्रमाणिकता, वस्तु स्वरुप का स्पष्ट निरुपण, अरिहंतो से गणधर और गणधरों से आचार्यों तक विचारो की एकरुपता पूर्वक की उपदेश परंपरा हमारी आन बान और शान है।

संपूर्ण विश्व के कल्याण हेतु बहुत व्यापक चिंतन प्रस्तुत कराने वाला जैन दर्शन सर्वकालिन तत्कालिन और वर्तमान कालिन हुई समस्याओं का समाधान करता है, इसीलिए जैन दर्शन कभी के लिए नहीं अभी सभी के लिए है।

यहाँ जैन धर्म दर्शन के व्यापक स्वरुप में से आंशीक और आवश्यक तत्वज्ञान एवं आचरण पक्ष को **डॉ. कुमारी निर्मलाबेन** ने स्पष्ट मगर सरलता से प्रस्तुत किया है। स्वाध्यायप्रिय सबके लिए अनमोल सोगात, आभूषण है। बहन **निर्मला** का यह प्रयास वंदनीय है।

ध्यान में रहे इसी पुस्तक का स्वाध्याय ज्ञान के मंदिर में प्रवेश करने का मुख्य द्वार है।

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

वर्तमान समय में जीव के परम कल्याण हेतु **"जिन वाणी"** प्रमुख साधन है । जीवन की सफलता का आधार सम्यक जीवन में वृद्धि तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। जहाँ सम्यक् ज्ञान है वहाँ शांति है, आनंद है और जहाँ अज्ञान है वहाँ आर्तध्यान है । परम पुण्योदय से मनुष्य जन्म एवं जिनशासन प्राप्त होने पर भी अध्ययन करने वाले अधिकतर विद्यार्थियों को धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा न मिलने के कारण आज के युग में प्रचलित भौतिकवादी ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा मानव बुद्धि को तृष्णा, ईर्ष्या, असंतोष, विषय - विलास आदि तामसिक भावों को बढावा दिया हैं। ऐसे जड विज्ञान भौतिक वातावरण तथा विलासी जीवन की विषमता का निवारण करने के लिए सन्मार्ग सेवन तथा तत्वज्ञान की परम आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से यह त्रिवर्षीय पत्राचार द्वारा पाठ्यक्रम (**Certificate & Diploma Course**) हमारे ट्रस्ट द्वारा शुरु किया जा रहा हैं। ताकि प्रभु महावीर की वाणी घर बैठे जन - जन तक पहुँच सकें, नई पीढी धर्म के सन्मुख होवे तथा साथ में वे लोग भी लाभान्वित हो जहाँ दूर - सुदूर, छोटे - छोटे गाँवों में साधु-साध्वी भगवंत न पहुंच पाये, गुरुदेवों के विचरन के अभाव में ज्ञान प्राप्ति से दूर हो रहे हो।

"जैन धर्म दर्शन" के नाम से नवीन पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया है, जिसमें भाग 1 से 6 तक प्रति 6-6 महीने में प्रस्तुत किये जाएंगे।

इस पुस्तक के पठन - पाठन से पाठकगण जैन इतिहास, तत्त्वमीमांसा, आचार मीमांसा, कर्म मीमांसा सूत्रार्थ - महापुरुषों के जीवन कथाओं के विषय पर विशेष ज्ञान प्राप्त कर मन की मलिनताओं को दूर कर सकेंगे, ऐसा विश्वास है। पाठ्यक्रम के मार्गदर्शक **डॉ. सागरमलजी जैन** एवं प्राणी मित्र **श्री कुमारपाल भाई वी. शाह** के हम बडे आभारी है। पुस्तक के संकलन में **कु. राजुल बोरुन्दिया, श्री मोहन जैन, डॉ. मीना साकरिया** एवं **श्रीमती अरुणा कानुगा** का सुंदर योगदान रहा है।

आशा है आप हमारे इस प्रयास को आंतरिक उल्लास, उर्जा एवं उमंग से बधाएंगे और अपने प्रेम प्रेरणा, प्रोत्साहन से हमारे भीतर के आत्म विश्वास को बढाएंगे।

अंत में इस नम्र प्रयास के दौरान कोई भी जिनाज्ञा विरुद्ध कथन हुआ हो तो मिच्छामि दुक्कडं।

डॉ. निर्मला जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* जैन इतिहास *

* जैन धर्म का परिचय
* काल चक्र
* भगवान महावीर का जीवन चरित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म का परिचय

धर्म का स्वरुप

जैन धर्म के बारे में जानने से पूर्व, 'धर्म' शब्द को भलीभांति समझ लेना जरुरी है। क्योंकि धर्म के बारे में ज्यादा से ज्यादा गलत धारणाएं हजारों बरसों से पाली गयी है। धर्म न तो संप्रदाय का रूप है... न कोई पंथ या न किसी जाति के लिए आरक्षित व्यवस्था है। धर्म किसी भी व्यक्ति, समाज या स्थान विशेष के साथ जुड़ा हुआ नहीं है।

धर्म वह है जो हमारे चित्त को शांत करें, हमारी उत्तेजनाओं को शमन करें और हमारी सहन-शक्ति को बढ़ाएं। जो नियम आचरण अथवा चिन्तन व्यवहार में हमारी सहायता करता हैं वही धर्म कहलता हैं। जैन धर्म जीवन ज्योति का सिद्धांत है। वह अंतरंग जलता हुआ दीपक है जो सतत् कषायों के तिमिर को हटाने में सहायक होता हैं। यह सत्य है कि आत्मा का, आत्मा द्वारा आत्मा के लिए, आत्म कल्याण सर्वोत्तम उपयोग ही धर्म है।

जीवन को सही अर्थ में जानने, समझने के लिए धर्म ही एक माध्यम हो सकता है। वहीं धर्म वास्तविक तौर पर धर्म हो सकता है जो आत्मा को सुख-शांति एवं प्रसन्नता की पगडंडी पर गतिशील बनाएं।

धर्म शब्द की व्याख्या

भाषा शास्त्र की दृष्टि से धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है। **'धारणाद् धर्म'** जिसका अर्थ होता है जीवन की समग्रता को धारण करना अथवा **''दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मान धारयतीति धर्म''** दुर्गति में पड़ते हुए आत्मा को धारण करके रखता है वह धर्म है। धर्म की बुनियाद पर पूरे जीवन की इमारत खड़ी होती है। धर्म के अभाव में आदमी अधूरा है, अपूर्ण है। इसीलिए वैदिक धर्म के महान ऋषि ने सारे संसार को सावधान करते हुए कहा- **''धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा''** अर्थात धर्म सारे जगत का प्रतिष्ठान है, आधार है, प्राण है।

धर्म को अंग्रेजी में रिलीजन (Religion) कहा जाता है। रिलीजन शब्द रि-लीजेर से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है फिर से जोड़ देना। धर्म मनुष्य को जीवात्मा से और आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला है। (जीव को शाश्वत शक्ति एवं सुख देने का अमोघ सर्वोत्तम माध्यम है) वह सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर उत्तरोतर उत्कर्ष की ओर आगे बढ़ाता है।

जैसे छोटी-सी नाव मनुष्य को सागर से पार लगा देती है वैसे ही ढ़ाई अक्षर का धर्म शब्द आत्मा को भवसागर से पार लगा देता है अर्थात् आत्मा को परमात्मा बना देता है।

कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में कहा गया है :-

धम्मो वत्थुसहावों, खमादिभावों य दस विहो धम्मो।

रयणतं च धम्मों, जीवाणं रखणं धम्मो।।

वस्तु का स्वभाव धर्म हैं। क्षमा आदि भावों की अपेक्षा से वह दस प्रकार का है। रत्नत्रय (सम्यग् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र) भी धर्म है तथा जीवों की रक्षा करना भी धर्म है। सर्वप्रथम वस्तु स्वभाव को धर्म कहा गया है। जैसे आग का धर्म जलाना है, पानी का धर्म शीतलता है। यहां धर्म से हमारा तात्पर्य वस्तु के स्वाभाविक गुणों से होता हैं। किन्तु जब यह कहा जाता है कि दुखी एवं पीड़ितजनों की सेवा करना मनुष्य का धर्म है अथवा गुरू की आज्ञा का पालन शिष्य का धर्म है तो, इस धर्म को कर्त्तव्य या दायित्व कहा जाता है। इसी प्रकार जब हम यह कहते है कि मेरा धर्म जैन है या उसका धर्म ईसाई है तो हम एक तीसरी ही बात कहते है। यहां धर्म का मतलब है किसी दिव्य सत्ता, सिद्धांत या साधना पद्धति के प्रति हमारी श्रद्धा आस्था या विश्वास। अक्सर हम धर्म से यही तीसरा अर्थ लेते है। जबकि यह तीसरा अर्थ धर्म का अभिरूढ़ अर्थ है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तविक अर्थ नहीं हैं। सच्चा धर्म न हिन्दू होता है, न जैन, न बौद्ध, न ईसाई न इस्लाम। सच्चे धर्म की कोई संज्ञा नहीं होती। ये सब नाम आरोपित हैं। हमारा सच्चा अर्थ तो वही है जो हमारा निज स्वभाव हैं। इसीलिए भगवान महावीर ने **''वत्थु सहावो धम्मों''** के रूप में धर्म को परिभाषित किया हैं। प्रत्येक के लिए जो उसका निज-गुण है स्व-स्वभाव है वही धर्म है। काम, क्रोध, अहंकार, लोभ आदि विकारों से विमुक्ति होना ही शुद्ध धर्म है। स्व-स्वभाव से भिन्न जो भी होगा, वह उसके लिए धर्म नहीं अधर्म ही होगा। गीता में कहा गया है - **''स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह''** परधर्म अर्थात् दूसरे के स्वभाव को इसलिए भयावह कहा गया क्योंकि वह हमारे लिए स्वभाव न होकर विभाव होगा और जो विभाव है वह धर्म न होकर अधर्म ही होगा।

यह सत्य है कि आज विश्व में अनेक धर्म प्रचलित है। किन्तु यदि गंभीरतापूर्वक विचार करे तो इन विविध धर्मों का मूलभूत लक्ष्य है, मनुष्य को एक अच्छे मनुष्य के रूप में विकसित कर उसे परमात्मा तत्त्व की ओर ले जाना। क्या शीलवान, समाधिवान, प्रज्ञावान होना केवल बौद्धों का ही धर्म है? क्या वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह होना केवल जैनियों का ही धर्म हैं? क्या स्थितप्रज्ञ, अनासक्त, जीवमुक्त होना केवल हिन्दुओं का ही धर्म हैं? क्या प्रेम, करुणा से ओत-प्रोत होकर जनसेवा करना केवल ईसाईयों का ही धर्म हैं? क्या जात-पांत के भेदभाव से मुक्त रहकर सामाजिक समता का जीवन जीना केवल मुसलमानों का ही धर्म हैं? आखिर धर्म क्या है? इसलिए पहले धर्म की शुद्धता को समझे और धारण करें।

जिनों (जिनेश्वर) ने खुद अपने जीवन मे जिस धर्म को जिया और फिर दुनिया को साधना का मार्ग बतलाया, वह साधकों के लिए धर्म हो गया। **जिनों (तीर्थंकर)** ने इस धर्म को प्ररूपणा की, अतः इसका नाम हो गया जिन धर्म या जैन धर्म

यह सत्य है कि 'जैन धर्म' इस शब्द का प्रयोग वेदों में, त्रिपिटकों में और आगमों में देखने को नहीं मिलता, जिसके कारण भी कुछ लोग जैन धर्म को प्राचीन (Ancient) न मानकर अर्वाचीन (Modern) मानते हैं। प्राचीन साहित्य में जैन धर्म का नामोल्लेख न मिलने का कारण यह था कि उस समय तक इसे जैन धर्म के नाम से जाना ही नहीं जाता था।

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग आदि आगम साहित्य में **जिन शासन, जिनधर्म, जिन प्रवचन** आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

भगवान महावीर के पश्चात 'जैन धर्म' इस नाम का प्रयोग सर्वप्रथम जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अपने **विशेषावश्यक भाष्य** में किया। उसके बाद उत्तरवर्ती साहित्य में 'जैन' शब्द व्यापक रूप में प्रचलित हुआ।

जैन शब्द का मूल उद्गम जिन है। जिन शब्द 'जिं जये' धातु से निष्पन्न है। जिसका शाब्दिक अर्थ है - जीतने वाला। जिन को परिभाषित करते हुए लिखा गया -

राग-द्वेषादि दोषान् कर्मशत्रुं जयतीति जिनः,

तस्यानुयायिनों जैनाः।

अर्थात् राग-द्वेष आदि दोषों और कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले जिन और उनके अनुयायी जैन कहलाते हैं।

जिस प्रकार विष्णु को उपास्य मानने वाले 'वैष्णव' और शिव के उपासक 'शैव' कहलाते हैं, उसी प्रकार जिन के उपासक 'जैन' कहलाते हैं। विष्णु, शिव की भांति जिन किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं हैं, वे सभी महापुरुष जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है, जितेन्द्रिय बन गये हैं, वीतराग हो चुके हैं, **'जिन'** कहलाते है। और वे जिनेश्वर, वीतराग, परमात्मा, सर्वज्ञ, तीर्थंकर, निर्ग्रंथ, अर्हत् आदि नामो से जाने जाते है।

जिनेश्वर :- जिन अर्थात् राग-द्वेष को जीतने वाले एवं ऐसे जिनके ईश्वर-स्वामी, वे जिनेश्वर कहलाते है। अपने असली शत्रु राग-द्वेष ही हैं एवं नकली शत्रु इनके कारण ही पैदा होते हैं। राग अर्थात् मन-पसंद वस्तु पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोह करना व द्वेष अर्थात् नापसंद वस्तु से घृणा करना। ये दोनों शत्रु साथ-साथ रहते हैं।

वीतराग - वीत यानी चले जाना। राग यानि ममत्त्व भाव अर्थात् जिनके रागादि पाप भाव चले गए हैं, वे वीतराग कहलाते हैं। प्रभु ने राग को जड़मूल से उखाड़ दिया, राग गया जिससे द्वेष भी चला गया। ये दोनों गए, अतः सभी दोष गए, संसार गया और भगवान वीतराग हो गए।

परमात्मा :- परमात्मा अर्थात् शुद्ध आत्मा, राग द्वेष नाश होने के बाद आत्मा शुद्ध बन जाती है। अतः वे परमात्मा भी कहलाते है।

जैन दर्शन मूलतः आत्मवादी दर्शन है, इसका सारा चिंतन आत्मा को केन्द्र में रखकर ही होता है। इसमें आत्म गुणों की पूजा की जाती है, किसी व्यक्ति की नहीं।

जैन धर्म की प्राचीनता

संसार के विविध विषयों में इतिहास का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। विचारकों द्वारा इतिहास को धर्म, देश, जाति, संस्कृति अथवा सभ्यता का प्राण माना गया है। जिस धर्म, देश, संस्कृति अथवा सभ्यता का इतिहास जितना अधिक समुन्नत और समृद्ध होता हैं, उतना ही वह धर्म, देश और समाज उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर अग्रसर होता है। वास्तव में इतिहास मानव की वह जीवनी शक्ति है जिससे निरंतर अनुप्राणित हो मानव उन्नति की ओर बढते हुए अन्त में अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है।

जैन धर्म एक प्राचीनतम धर्म है। यह अनादि अनंत काल से चला आ रहा है। प्रत्येक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल में तीर्थंकरों के द्वारा धर्म की स्थापना होती है और इस वर्तमान अवसर्पिणी काल में भगवान ऋषभदेव ने इस धर्म की स्थापना की। जिनका समय अब से करोड़ों वर्ष पूर्व हुआ था। उनके पश्चात् तेईस तीर्थंकर और हुए, जिन्होंने अपने-अपने समय में जैन धर्म का प्रचार किया। इन्हीं तीर्थंकरों में भगवान महावीर अन्तिम अर्थात् चौबीसवें तीर्थंकर थे। उन्होंने कोई नया धर्म नहीं चलाया अपितु उसी जैन धर्म का पुनरोद्धार किया, जो तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के समय से चला आ रहा था।

ऋषभदेव से पूर्व मानव समाज पूर्णतः प्रकृति पर आश्रित था। कालक्रम में जब मनुष्यों की जनसंख्या मे वृद्धि एवं प्राकृतिक संसाधनों में कमी होने लगी तो मनुष्य में संचय वृत्ति का विकास हुआ तथा स्त्रियां, पशुओं और खाद्य पदार्थों को लेकर एक दूसरे से छीना-झपटी होने लगी। ऐसी स्थिति में भगवान ऋषभदेव ने सर्वप्रथम समाज व्यवस्था एवं शासन व्यवस्था की नींव डाली तथा असि, मसि, कृषि एवं शिल्प के द्वारा अपने ही श्रम से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना सिखाया।

उन्होंने यह अनुभव किया कि भोग सामग्री की प्रचुरता भी मनुष्य की आकांक्षा व तृष्णा को समाप्त करने में असमर्थ हैं। इसीलिए उन्होंने स्वयं परिवार एवं राज्य का त्याग करके वैराग्य का मार्ग अपनाया और लोगों को त्याग एवं वैराग्य की शिक्षा देना पुनः प्रारम्भ किया।

जैन धर्म की प्रामाणिकता

कुछ विद्वान जैन धर्म को वैदिक धर्म की शाखा, तो कुछ इसे बौद्ध धर्म की शाखा मानते हैं। पर वर्तमान मे हुए शोध अनुसंधानों से ज्ञात होता है कि यह न वैदिक धर्म की शाखा है और न बौद्ध धर्म की शाखा है। यह एक स्वतंत्र धर्म है।

यह वैदिक धर्म की शाखा नहीं है, क्योंकि वैदिक मत में वेद सबसे प्राचीन माने जाते हैं। विद्वान वेदों को 5000 वर्ष प्राचीन मानते हैं। वेदों में ऋषभ, अरिष्टनेमि आदि श्रमणों का उल्लेख मिलता है। वेदों के पश्चात उपनिषद, आरण्यक, पुराण आदि में भी इनका वर्णन आया है। यदि इन ग्रंथों की रचना से पूर्व जैन धर्म न होता, भगवान ऋषभ न होते, तो उनका उल्लेख इन ग्रंथों में कैसे होता? इससे ज्ञात होता है कि जैन धर्म इनसे अधिक प्राचीन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. केशी : ऋग्वेद के जिस प्रकरण में वातरशन मुनि का उल्लेख है उसी में केशी की स्तुति की गई है :-

"केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।

केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते।।"

यह केशी, भगवान ऋषभ का वाचक है। उनके केशी होने की परम्परा जैन साहित्य में आज भी उपलब्ध है। उल्लेख मिलता है, वे जब मुनि बने तब उन्होंने चार मुष्टि-लोच कर लिया। दोनों पार्श्व भागों का केश लोच करना बाकी था तब इन्द्र ने भगवान ऋषभ से कहा - इन सुंदर केशों को इसी प्रकार रहने दें। भगवान ने उनकी बात मानी और उसे वैसे ही रहने दिया। इसलिए उनकी मूर्ति के कंधों पर आज भी केशों की वल्लरिका की जाती है। घुंघराले और कंधों लटकते बाल उनकी प्रतिमा के प्रतीक हैं।

2. अर्हन् :- जैन धर्म का 'आर्हत धर्म' नाम भी प्रसिद्ध रहा है। जो अर्हत के उपासक थे वे आर्हत कहलाते थे। अर्हन् शब्द श्रमण संस्कृति का बहुत प्रिय शब्द है। वे अपने तीर्थंकरों या वीतराग आत्माओं को अर्हन कहते हैं। ऋग्वेद में अर्हन शब्द का प्रयोग श्रमण नेता के लिए ही हुआ है -

अर्हन् विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम।

अर्हन्निदं दयसे विश्वसभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति।।

ऋग्वेद में प्रयुक्त अर्हन शब्द से प्रमाणित होता है कि श्रमण संस्कृति ऋग्वैदिक काल से पूर्ववर्ती है।

3.अपनी पुस्तक **'इंडियन फिलासफी'** में पृष्ठ 278 में डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन लिखते हैं कि श्रीमद् भागवत पुराण ने इस मत की पुष्टि की है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे।

प्रमाण उपलब्ध हैं, जो बताते है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के बहुत पहले से ही ऐसे लोग थे जो प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव के भक्त थे। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं कि वर्द्धमान या पार्श्वनाथ से कहीं पहले से ही जैन धर्म प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभ, अजित एवं अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख आता है। भगवत पुराण भी इस विचार का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के प्रवर्तक थे।

इसीलिए अनादिकाल से चली आ रही जैन परंपरा में ऋषभदेव को 'आदिनाथ' कहकर भी पुकारा गया।

4. अपनी पुस्तक **'भारतीय धर्म एवं संस्कृति'** में डॉ. बुद्धप्रकाश ने लिखा है: महाभारत में विष्णु के सहस्त्र नामों में श्रेयांस, अनंत, धर्म, शांति और संभव नाम आते हैं और शिव के नामों में ऋषभ, अजित, अनंत और धर्म मिलते हैं। विष्णु और शिव दोनों का एक नाम 'सुव्रत' दिया गया है। ये सब जैन तीर्थंकरों के नाम हैं। लगता है कि महाभारत के समन्वयपूर्ण वातावरण में तीर्थंकरों को विष्णु और शिव के रूप में सिद्ध कर धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया हो। इससे तीर्थंकरों की परंपरा प्राचीन सिद्ध होती है।

5. मेजर जनरल फ्लेमिंग अपनी पुस्तक **'धर्मों का तुलनात्मक इतिहास'** में लिखते है :-

जब आर्य लोग भारत आये तो उन्होंने जैन धर्म का विस्तृत प्रचलन पाया।

जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य है - सत्य का साक्षात्कार करना। सत्य की उपलब्धि में प्राचीन और नवीन का कोई महत्त्व नहीं होता, पर इतिहास की दृष्टि में प्राचीन और अर्वाचीन का महत्त्व होता है। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म प्राग्वैदिक है। जैन धर्म के प्राचीन होने की संपुष्टि हम दो तथ्यों के आधार पर भी कर सकते हैं - 1. पुरातत्त्व के आधार पर 2. साहित्य के आधार पर।

पुरातत्त्व के आधार पर (Archeological Sources):-

पुरातत्त्ववेत्ता भी अब इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि भारत में वैदिक सभ्यता का जब प्रचार-प्रसार हुआ, उससे पहले यहां जो सभ्यता थी, वह अत्यंत समृद्ध एवं समुन्नत थी। प्राग्वैदिक काल(Pre-Vedic) का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई साहित्य नहीं मिलता। किंतु पुरातत्त्व की खोजों और उत्खनन के परिणामस्वरूप कुछ नये तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। सन् 1922 में और उसके बाद मोहन-जोदड़ों और हड़प्पा की खुदाई भारत सरकार की ओर से की गई थी। इन स्थानों पर जो पुरातत्त्व उपलब्ध हुआ है, उससे तत्कालीन भारतवासियों के रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज और धार्मिक विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है। इन स्थानों पर यद्यपि कोई देवालय मंदिर नहीं मिले हैं, किंतु वहां पाई गई मुहरों, ताम्रपत्रों तथा पत्थर की मूर्तियों से उनके धर्म का पता चलता है।

1. मोहन जोदड़ो में कुछ मुहरें ऐसी मिली हैं, जिन पर योगमुद्रा में योगी मूर्तियां अंकित है, एक मुहर ऐसी भी प्राप्त हुई, जिसमें एक योगी कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानलीन है।

कायोत्सर्ग मुद्रा जैन परंपरा की ही विशेष देन है। मोहनजोदड़ों की खुदाई में प्राप्त मूर्तियों की यह विशेषता है कि वे प्रायः कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं, ध्यानलीन हैं और नग्न हैं। खड़े रहकर कायोत्सर्ग करने की पद्धति जैन पंरपरा में बहुत प्रचलित है।

धर्म परंपराओं में योग मुद्राओं में भी भेद होता है। पद्मासन एवं खड्गासन जैन मूर्तियों की विशेषता है। इसी संदर्भ में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा - प्रभो! आपके पद्मासन और नासाग्र दृष्टि वाली योगमुद्रा को भी परतीर्थिक नहीं सीख पाए हैं तो भला वे ओर क्या सीखेगें। प्रोफेसर प्राणनाथ ने मोहनजोदड़ों की एक मुद्रा पर **'जिनेश्वर'** शब्द भी पढ़ा है।

2. मोहनजोदड़ों से प्राप्त मूर्तियां तथा उनके उपासक के सिर पर नाग फण का अंकन है। वह नाग वंश का सूचक है। सातवें तीर्थंकर भगवान सुपार्श्व के सिर पर सर्प-मण्डल का छत्र था।

इस प्रकार मोहनजोदड़ों और हडप्पा आदि में जो ध्यानस्थ प्रतिमायें मिली हैं, वे तीर्थंकरों की हैं। ध्यानमग्न वीतराग मुद्रा, त्रिशूल और धर्मचक्र, पशु, वृक्ष, नाग ये सभी जैन कला की अपनी विशेषताएं हैं। खुदाई में प्राप्त ये अवशेष निश्चित रूप से जैन धर्म की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

3. डेल्फी से प्राप्त प्राचीन आर्गिव मूर्ति, जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है, ध्यानलीन है और उसके कंधों पर ऋषभ की भांति केश-राशि लटकी हुई है। डॉ. कालिदास नाग ने उसे जैन मूर्ति बतलाया है। वह लगभग दस हजार वर्ष पुरानी है।

4. सिंधुघाटी सभ्यता का विवरण देते हुए विख्यात इतिहासकार डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी अपनी पुस्तक **'हिन्दू सभ्यता'** में लिखते हैं कि उस समय के सिक्कों में ध्यानस्थ जैन मुनि अंकित है जो द्वितीय शताब्दी की मथुरा अजायबघर में संग्रहित ऋषभदेव की मूर्ति से मेल खाते हैं और मूर्तियों के नीचे बैल का चिन्ह मौजूद है। मोहनजोदड़ों की खुदाई में 'निर्ग्रन्थ' मूर्तियां पाई गई हैं और उसी तरह हडप्पा में भी। हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के प्रोफेसर प्राणनाथ विद्यालंकार सिंधु घाटी में मिली कायोत्सर्ग प्रतिमाओं को ऋषभदेव की मानते हैं और उनका मत है कि उन्होंने तो सील क्रमांक 441 पर **'जिनेश'** शब्द भी पढा है।

5. डॉ. हर्मन जेकोबी ने अपने ग्रंथ **'जैन सूत्रों की प्रस्तावना'** में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। आज पार्श्वनाथ जब पूर्णतः ऐतिहासिक सिद्ध हो चुके हैं तब भगवान महावीर से जैन धर्म का शुभारंभ मानना मिथ्या ही है। जेकोबी लिखते है - ''इस बात से अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त जो वर्धमान अथवा महावीर नाम से प्रसिद्ध हुए, वे बुद्ध के समकालीन थे। बौद्ध ग्रंथों में मिलने वाले उल्लेख हमारे इस विचार को और दृढ करते हैं कि नातपुत्त से पहले भी निर्ग्रन्थों या आर्हतों का जो आज आर्हत या जैन नाम से प्रसिद्ध हैं - अस्तित्व था।''

साहित्य के आधार पर :- (Literary Sources)

भारतीय साहित्य में वेद सबसे प्राचीन माने जाते है

1.ऋग्वेद और यजुर्वेद में जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का कई स्थानों पर उल्लेख जैन धर्म के वैदिक काल से पूर्व अस्तित्व को सिद्ध करता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद तथा बाद के हिन्दू

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुराणों में न केवल सामान्य रूप से श्रमण परंपरा और विशेष रूप से जैन परंपरा से जुड़े अर्हत, व्रात्य, वातरशना, मुनि, श्रमण, आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है बल्कि अर्हत परंपरा के उपास्य वृषभ का वंदनीय वर्णन अनेकानेक बार हुआ है। ऋषभदेव द्वारा प्रारंभ जैन श्रमण संस्कृति तो आज के संदर्भ में 5000 वर्ष से भी अधिक प्राचीन है।

2. श्रमण - ऋग्वेद में वातरशन मुनि का प्रयोग मिलता है। ये श्रमण भगवान ऋषभ के ही शिष्य हैं। श्रीमद् भागवत में ऋषभ को श्रमणों के धर्म का प्रवर्तक बताया गया है। उनके लिए श्रमण, ऋषि, ब्रह्मचारी आदि विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं। वातरशन शब्द भी श्रमणों का सूचक हैं। श्रमण का उल्लेख वृहदारण्यक उपनिषद और रामायण आदि में भी होता रहा है।

3. उड़ीसा की प्रसिद्ध खडगिरी और उदयगिरी की हाथी गुफाओं में 2100 वर्ष पुराने प्राचीन शिलालेख पाये गये हैं जिसमें जिक्र आता है किसी तरह कलिंग युद्ध में विजय पाकर मगध के राजा नंद ईसा पूर्व 423 वर्ष में ऋषभ देव की मूर्ति खारवेल से जीत के उपहार के रूप में ले आये। खारवेल के अवशेषों से यह भी मालूम हुआ है कि उदयगिरी में प्राचीन अरिहंत मंदिर हुआ करता था।

इस प्रकार उपलब्ध ऐतिहासिक, पुरातात्विक और साहित्यिक सामग्री से स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म एक स्वतंत्र और मौलिक दर्शन परम्परा के रूप में विकसित हुआ है जिसने भारतीय संस्कृति में करुणा और समन्वय की भावना को अनुप्राणित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

12 आरा का काल चक्र

उत्सर्पिणी काल
दस कोडा–कोडी
सागरोपम

अवसर्पिणी काल
दस कोडा–कोडी
सागरोपम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल-चक्र

जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि (Nature)अनादिकाल से गतिशील है। इसकी न ही आदि है और न ही अंत। द्रव्य की अपेक्षा से यह नित्य और ध्रुव है, पर पर्याय की अपेक्षा से यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। परिणमन प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। सृष्टि में भी नित नये परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों को लेकर ही यह सृष्टि चल रही है। इसका न कभी सर्वथा विनाश(Destruction) होता है और न कभी उत्पाद(Origination) होता है। सदा आंशिक विनाश होता रहता है और उस विनाश में से ही आंशिक उत्पाद होता रहता है। सृष्टि इस विनाश ओर उत्पाद के चक्र में अपने मूल तत्त्वों को संजोकर ज्यों का त्यों रखे हुए है। परिणमन का यह क्रम अनादि काल से चल रहा है।

काल का चक्र भी इस प्रकार अनादि काल से घूम रहा है। इस कालचक्र में भी न आदि है न अंत। निरंतर घूमते रहने वाले कालचक्र में आदि और अंत संभव भी नहीं हो सकते। अतः कालचक्र भी अविभाज्य और अखंड है। किंतु व्यवहार की सुविधा के लिए हम काल के विभाग कर लेते हैं। जैन दर्शन में काल को एक चक्र की उपमा दी गई है। जैसे चक्र में 12 आरे (लकड़ी के डंडे) होते हैं, वैसे ही कालचक्र के भी 12 आरे माने गये हैं और इन्हें दो भागों में विभक्त किया गया है जो कि अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल के नाम से जाने जाते हैं।

गाड़ी का 'चक्र' (पहिया) कभी ऊपर और कभी नीचे घूमता रहता है। इसी प्रकार कालचक्र भी कभी विकास की तरफ ऊपर उठता है तो कभी ह्रास की ओर नीचे जाता है।

नीचे-ऊपर के इस क्रम से काल को दो भागों में बांटा गया है -

1. अवसर्पिणी काल और 2. उत्सर्पिणी काल।

अवसर्पिणी काल - जिस काल में जीवों की शक्ति, अवगाहना, आयु तथा प्राकृतिक संपदा एवं पर्यावरण की सुन्दरता क्रमशः घटती जाती है, वह अवसर्पिणी काल कहलाता है और जिस काल में शक्ति, अवगाहना और आयु तथा धरती की सरसता आदि में क्रमशः वृद्धि होती जाती है, वह उत्सर्पिणी काल कहलाता है।

अवसर्पिणी काल समाप्त होने पर उत्सर्पिणी काल आता है और उत्सर्पिणी काल समाप्त होने पर अवसर्पिणी काल। अनादिकाल से यह क्रम चला आ रहा है और अनंतकाल तक यही क्रम चलता रहेगा।

उत्सर्पिणी काल 10 कोडा-कोडी सागरोपम का है, अवसर्पिणी काल भी इतना ही है। दोनों मिलाकर 20 कोडा-कोडी सागरोपम का एक काल चक्र होता है।

कल्पना कीजिये कि एक योजन(लगभग 12 कि.मी.) लंबा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा कुंआ हो, उसमें देवकुरु, उत्तरकुरु मनुष्यों के बालों के असंख्य खंड तल से लगाकर ऊपर तक ठूंस-ठूंस कर इस प्रकार भरे जायें कि उसके ऊपर से चक्रवर्ती की सेना निकल जाय तो भी वह दबे नहीं। नदी का प्रवाह उस पर से गुजर जाय परंतु एक बूंद पानी अंदर न भर सके। अग्नि का प्रवेश भी न हो। उस कुएं में से सौ-सौ वर्ष बाद एक-एक बाल खंड निकाले इस प्रकार करने से जितने समय में वह कुंआ खाली हो जाए, उतने समय को एक पल्योपम कहते हैं। ऐसे दस कोडा कोडी पल्योपम का एक सागरोपम होता है। बीस कोडा कोडी सागरोपम का एक कालचक्र होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक काल में छह-छह आरे हैं। काल-चक्र के कुल बारह आरे इस प्रकार हैं -

कालचक्र

अवसर्पिणी काल	**उत्सर्पिणी काल**
1. सुषम-सुषमा	1. दुषम-दुषमा
2. सुषमा	2. दुषमा
3. सुषमा-दुषमा	3. दुषम-सुषमा
4. दुषम-सुषमा	4. सुषम-दुषमा
5. दुषमा	5. सुषमा
6. दुषम-दुषमा	6. सुषम-सुषमा

(1) सुषमा-सुषमा :- अवसर्पिणी काल के पहले आरे में मनुष्यों के शरीर की अवगाहना तीन गाऊ (कोस) की, आयु तीन पल्योपम की होती है। मनुष्यों के शरीर में लगते आरे 256 पसलियां होती हैं और उतरते आरे में 128 होती हैं। अत्यंत रूपवान और सरल स्वभाव वाले होते है। एक साथ स्त्री और पुरुष का जोड़ा उत्पन्न होता है। जिसे युगलिक कहते हैं। उनकी इच्छाएं दस प्रकार के कल्पवृक्षों से पूर्ण होती हैं।

वे दस प्रकार के कल्पवृक्ष इस प्रकार है।

1. मातंग - मधुर फलादि देते है।
2. भृङ्ग - रत्न स्वर्णमय बर्तन देते हैं।
3. त्रुटिताङ्ग - 49 प्रकार के बाजे तथा राग-रागनियां सुनाते हैं।
4. दीप - दीपक के समान प्रकाश करते हैं।
5. ज्योति - सूर्य के समान प्रकाश करते हैं।
6. चित्रक - विचित्र प्रकार की पुष्पमालाएँ देते हैं।
7. चित्ररस - अठारह प्रकार के सरस भोजन देते हैं।
8. मण्यङ्ग - स्वर्ण, रत्नमय आभूषण देते हैं।
9. गेहाकार - मनोहर महल उपस्थित करते हैं।
10. अनग्न - सूक्ष्म और बहुमूल्य वस्त्र देते हैं।

इन दस प्रकार के वृक्षों से सारी आवश्यकताएं पूरी हो जाती थीं।

प्रथम आरे के मनुष्यों को आहार की इच्छा तीन-तीन दिन के अंतर से होती है। पहले आरे के स्त्री-पुरुष की आयु जब छह महीना शेष रहती है तो युगलिनी पुत्र-पुत्री का एक जोड़ा प्रसव करती है। सिर्फ 49 दिन तक उनका पालन-पोषण करना पड़ता है। इतने दिनों में वे होशियार और स्वावलम्बी होकर सुख का उपभोग करते रहते हैं। उनके माता-पिता में से एक को छींक (स्त्री) और दूसरे को जंभाई (उबासी) (पुरुष) आती है और मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। मृत्यु के बाद वे देवगति प्राप्त करते हैं। उस क्षेत्र के अधिष्ठाता देव युगल के मृतक शरीरों को क्षीर समुद्र में ले जाकर प्रक्षेप कर देते हैं। यह आरा 4 कोडा कोडी सागरोपम का होता है। एक बार वर्षा होने से दस हजार वर्ष तक पृथ्वी में सरसता रहती है। पृथ्वी का स्वाद मिश्री से भी अधिक मीठा होता है स्पर्श मक्खन जैसा होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) सुषमा - प्रथम आरे की समाप्ति पर तीन कोडाकोडी सागरोपम का सुषमा नामक दूसरा आरा प्रारंभ होता है। दूसरे आरे में, पहले आरे की अपेक्षा वर्ण, रस, गंध और स्पर्श की उत्तमता में अनंतगुनी हीनता आ जाती है। इस आरे में एक वर्षा बरसने से एक हजार वर्ष तक पृथ्वी में सरसता रहती है। पृथ्वी का स्वाद चीनी से अधिक मीठा होता है। स्पर्श रेशम के गुच्छे जैसा होता हैं। क्रम से घटती-घटती दो गाऊ शरीर की अवगाहना, दो पल्योपम की आयु और 128 पसलियां रह जाती है। दो दिन के अंतर से आहार की इच्छा होती है। फूल, फल आदि का आहार करते हैं। मृत्यु से छह माह पहले युगलिनी पुत्र-पुत्री के एक जोड़े को जन्म देती है। इस आरे में 64 दिन तक उनका पालन-पोषण करना पडता है। तत्पश्चात वे स्वावलम्बी हो जाते हैं और सुखोपभोग करते हुए विचरते हैं। शेष सभी वर्णन पहले आरे के समान ही समझना चाहिए।

(3) सुषमा-दुषमा - दो कोडाकोडी सागरोपम का तीसरा सुषमा-दुषमा (बहुत सुख और थोडा दुःख) नाम तीसरा आरा आरंभ होता है। इस आरे में भी वर्ण, रस, गंध और स्पर्श की उत्तमता में क्रमशः अनंतगुनी हानि हो जाती है। इस आरे में एक वर्षा बरसने से सौ वर्ष तक पृथ्वी की सरसता रहती है। पृथ्वी का स्वाद गुड़ जैसा और स्पर्श रुई की पेल जैसा होता है। घटते-घटते एक गाऊ का देहमान, एक पल्योपम का आयुष्य और 64 पसलियाँ रह जाते हैं। एक दिन के अंतर पर आहार की इच्छा होती है। मृत्यु के छह माह पहले युगलिनी पुत्र-पुत्री के जोड़े को जन्म देती है। 79 दिनों तक पालन-पोष्ण करने के पश्चात वह जोडा स्वावलंबी हो जाता है।

जब तीसरा आरा समाप्त होने में चौरासी लाख पूर्व 3 वर्ष और 8 मास 15 दिन शेष रह जाते हैं, तब प्रथम तीर्थंकर का जन्म होता है। काल के प्रभाव से, कल्पवृक्षों से कुछ भी प्राप्ति नहीं होती, तब मनुष्य क्षुधा से पीड़ित और व्याकुल होते है। परस्पर विग्रह होने लगता है, तब सब मिलकर अपनी समस्या लेकर उन राजकुमार (भावी तीर्थंकर) के पास आते हैं। मनुष्यों की यह दशा देखकर और दयाभाव से प्रेरित होकर वे उनके प्राणों की रक्षा के लिए खेती करना, अग्नि प्रज्वलित करना तथा शिल्प आदि कलाएं सिखाते हैं।

संपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था हो जाने के बाद तीर्थंकर राज्य-ऋद्धि का परित्याग कर देते हैं। और स्वतः प्रबुद्ध होकर संयम ग्रहण करके, तपश्चर्या करके चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करके धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं और आयु का अंत होने पर मोक्ष पधारते हैं। प्रथम चक्रवर्ती भी इसी आरे में होते हैं।

(4) दुषमा-सुषमा - तीसरा आरा समाप्त होते ही 42,000 वर्ष कम एक करोड़ सागरोपम का चौथा आरा आरंभ होता है। इस आरे में पहले की अपेक्षा वर्णादि की, शुभ पुद्‌गलों की अनंतगुणी हानि हो जाती है। एक वर्षा बरसने से दस वर्ष तक पृथ्वी में सरसता बनी रहती हैं। भूमि का स्वाद चावल के मैदे जैसा और स्पर्श साफ रूई जैसा होता है। देहमान क्रमशः घटते-घटते 500 धनुष का और आयुष्य एक करोड़ पूर्व का रह जाता है। पसलियां सिर्फ 32 होती हैं। दिन में एक बार भोजन की इच्छा होती है। 23 तीर्थंकर, 11 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेव भी इसी आरे में होते हैं।

चौथा आरा समाप्त होने में जब तीन वर्ष 8.5 (साढे आठ)महीने शेष रहते हैं तब चौबीसवें तीर्थंकर मोक्ष पधार जाते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी काल में भगवान महावीर के मोक्ष पधारने के तुरंत बाद ही श्री गौतम स्वामी को केवलज्ञान हुआ। वे बारह वर्ष पर्यन्त केवली पर्याय में रहकर मोक्ष पधारे। इसके पश्चात श्री सुधर्मा स्वामी को केवलज्ञान हुआ। वे 44 वर्ष तक केवली पर्याय में रहकर मोक्ष पधारे। इस प्रकार प्रभु महावीर के निर्वाण के बाद 64 वर्ष तक केवल ज्ञान रहा। इसके बाद कोई केवलज्ञानी नहीं हुआ। चौथे आरे के जन्मे हुए मनुष्य को पांचवे आरे में केवलज्ञान हो सकता है। किंतु पांचवें आरे में जन्मे हुए को केवलज्ञान नहीं होता।

(5) दुषमा - 21,000 वर्ष का दुषमा नामक पांचवा आरा आरंभ होता है। चौथे आरे की अपेक्षा वर्ण, रस,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गंध, स्पर्श में अर्थात् शुभ पुदगलों में अनंत गुनी हीनता हो जाती है। इस आरे में पृथ्वी का स्वाद कहीं-2 नमक जैसा खारा होता है। स्पर्श कठोर होता हैं। भूमि में सरसता थोड़ी होती है और रस में मधुरता थोड़ी होती हैं। बरसात बरसती है तो धानादि पैदा होते है अन्यथा नहीं। आयुक्रम घटते-घटते उत्कृष्ट 125 वर्ष की, शरीर की अवगाहना सात हाथ की तथा पसलियां 16 रह जाती हैं। दिन में दो बार आहार करने की इच्छा होती है।

पांचवे आरे में जम्बूस्वामी के मोक्ष जाने के बाद 10 बोलों को विच्छेद हुआ। 1. परम अवधिज्ञान 2. मनः पर्यव ज्ञान 3. केवल ज्ञान 4. परिहार विशुद्धि चारित्र 5. सूक्ष्म संपराय चारित्र 6. यथाख्यात चारित्र 7. आहारक लब्धि 8. पुलाक लब्धि 9. उपशम-क्षपक श्रेणी 10. जिनकल्प। इसमें चार जीव एकाभवतारी होंगे।

पंचम आरे के अन्तिम दिन अर्थात् आषाढ शुक्ला पूर्णिमा को शक्रेन्द्र का आसन चलायमान होगा। तब देवेन्द्र शक्रेन्द्र आकाशवाणी करेंगे - हे लोगों! पांचवा आरा आज समाप्त हो रहा है। कल छठा आरा लगेगा सावधान हो जाओ जो धर्माराधना करनी हो सो करलो। यह सुनकर 1. दुपसह नामक आचार्य 2. फाल्गुनी नामक साध्वी 3. जिनदास श्रावक और 4. नागश्री श्राविका, यह चारों जीव, सर्वजीवों से क्षमा, याचना कर निःशल्य होकर संथारा ग्रहण करेंगे। ये चार जीव समाधिमरण से कालधर्म को प्राप्त होकर प्रथम देवलोक में उत्पन्न होंगे।

(6) दुषमा-दुषमा - पंचम आरे की पूर्णाहूति होते ही 21,000 वर्ष का छठा आरा आरंभ होता है। इसके आरंभ होने के साथ ही संवर्तक नामक बड़ी तेज भयंकर आंधी चलेगी। सर्वत्र मनुष्य पशुओं में हाहाकार मच जायेगा। चारों दिशाएं धूम और धूलि से अंधकारमय हो जायेगी। सूर्य अत्यधिक प्रचंड तापमय होगा और चन्द्रमा अत्यधिक शीतल होकर शीत उत्पन्न करेगा। अत्यंत सर्दी और गर्मी की व्याप्ति से लोग कष्ट पायेंगे। 1. धूल 2. पत्थर 3. अग्नि 4. क्षार 5. जहर 6. मल 7. बिजली इस तरह सात प्रकार की वर्षा होगी। प्रलय कालीन प्रचंड आंधी और वर्षा से ग्राम, नगर, किले, कुएं, बावडी, नदी, नाले, महल, पर्वत, उद्यान आदि नष्ट हो जायेंगे। वैताढ्य पर्वत, गंगा, सिंधु नदी, ऋषभकूट और लवण समुद्र की खाड़ी ये पांच स्थान रहेंगे। भरतक्षेत्र का अधिष्ठाता देव पंचम आरे के विनष्ट होते हुए मनुष्यों में से बीज रूप कुछ मनुष्यों को उठा ले जाता है तथा तिर्यंच पंचेन्द्रियों में से बीज रूप कुछ तिर्यंच पंचेन्द्रियों को उठाकर ले जाता है। वैताढ्य पर्वत के दक्षिण और उत्तर भाग में गंगा और सिंधु नदी है, उनके आठों किनारों पर नौ-नौ बिल हैं, सब मिल कर 8 गुणा 9 =72 बिल हैं। प्रत्येक बिल में तीन मंजिल हैं। उक्त देव उन मनुष्यों को इन बिलों में रख देता है।

छठे आरे में मनुष्य की आयु क्रमशः घटते-घटते 20 वर्ष और अवगाहना एक हाथ की रह जाती है। उतरते आरे में कुछ कम एक हाथ की अवगाहना और 16 वर्ष की आयु रह जाती है। मनुष्य के शरीर में आठ पसलियाँ और उतरते आरे में चार पसलियां रह जाती हैं।

लोगों को अपरिमित आहार की इच्छा होती है। अर्थात् कितना भी खा जाने पर तृप्ति नहीं होती। रात्रि में शीत और दिन में ताप अत्यंत प्रबल होता है। इस कारण वे मनुष्य बिलों से बाहर नहीं निकल सकते सिर्फ सूर्योदय और सूर्योस्त के समय एक मुहूर्त के लिए बाहर निकल जाते हैं। उस समय गंगा और सिंधु नदियों का पानी सर्प के समान वक्र गति से बहता है। गाड़ी के दोनों चक्र के मध्यभाग जितना चौड़ा और आधा चक्र डूबे जितना गहरा प्रवाह रह जाता है। उस पानी में कच्छ मच्छ बहुत होते हैं। वे मनुष्य उन्हें पकड़-पकड़ कर नदी की रेत में गाड़कर अपने बिलों में भाग जाते हैं। शीत-ताप के योग से जब वे पक जाते हैं तो दूसरी बार आकर उन्हें निकाल लेते हैं। उस पर सबके सब मनुष्य टूट पड़ते हैं और लूटकर खा जाते हैं। जानवर मच्छों की बची हुई हड्डियों को खाकर गुजारा करते हैं। उस काल के मनुष्य दीन-हीन दुर्बल, दुर्गन्धित, रुग्ण, अपवित्र, नग्न, आचार-विचार से हीन और माता-भगिनी-पुत्री आदि के साथ संगम करने वाले होते हैं। छह वर्ष की स्त्री संतान का प्रसव करती है। कुतरी और शूकरी के समान वे बहुत परिवार वाले और महा क्लेशमय होते हैं। धर्म-पुण्य से हीन वे दुःख ही दुःख में अपनी संपूर्ण आयु पूरी करके नरक या तिर्यंच गति में चले जाते है। इस प्रकार 10 कोडा कोडी सागरोपम प्रमाण का यह अवसर्पिणी काल होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन छहों आरों का संक्षिप्त विवेचन इस चार्ट से हम समझ सकते है।

आरा	नाम	समय	आवगाहना		आयुष्य		पसलियां		आहार
			आरा लगते	आरा उतरते	आरा लगते	आरा उतरते	आरा लगते	आरा उतरते	
1.	सुषमा-सुषमा	4 कोड़ा कोड़ी सगारोपम	3 गाऊ (6000 धनुष)	2 गाऊ (4000 धनुष)	3 पल्योपम	2 पल्योपम	256	128	3 दिन से एक बार
2.	सुषमा	3 कोड़ा कोड़ी सागरोपम	2 गाऊ	1 गाऊ	2 पल्योपम	1 पल्योपम	128	64	2 दिन से एक बार
3.	सुषमा दुषमा	2 कोड़ा कोड़ी सागरोपम	1 गाऊ	500 धनुष	1 पल्योपम	1 करोड़ पूर्व	64	32	1 दिन से एक बार
4.	दुषमा सुषमा	1 कोड़ा कोड़ी सागरोपम में 42 हजार वर्ष कम	500 धनुष	7 हाथ	1 करोड़ पूर्व	100 वर्ष झाझेरी	32	16	दिन में एक बार
5.	दुषमा	21000 वर्ष	7 हाथ	2 हाथ	100 वर्ष झाझेरी	20 वर्ष	16	8	एक बार से ज्यादा
6.	दुषमा दुषमा	21000 वर्ष	2 हाथ	1 हाथ	20 वर्ष	16 वर्ष	8	4	अपरिमित आहार के कारण असंतुष्टि

आरा	आहार प्रमाण	संतान का पालन पोषण	पृथ्वी का स्वाद	पृथ्वी का स्पर्श	पृथ्वी की सरसता	मृत्यु उपरांत गति	कल्पवृक्ष
1.	तुवर की दाल जितना	49 दिन	मिश्री से अधिक मीठा	मक्खन जैसा	10,000 वर्ष	देवगति	10
2.	बैर जितना	64 दिन	चीन से अधिक मीठा	रेशम के गुच्छ जैसा	1000 वर्ष	देवगति	10
3.	आवला जितना	79 दिन	गुड़ जैसा	रूई की पैल जैसा	100 वर्ष	चारों गति + मोक्ष	10
4.	-	-	चावल के मैदे जैसा	रूई जैसा साफ	10 वर्ष	चारों गति + मोक्ष	-
5.	-		नमक जैसा	कठोर	1 वर्ष	चारों गति	-
6.	-	-	नीरस	कठोरत्तम	-	नरक या तिर्यंच गति	-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्सर्पिणी काल :- अवसर्पिणी काल के जिन छह आरों का वर्णन किया गया है वहीं छह आरे उत्सर्पिणी काल में होते हैं। अन्तर यह है कि उत्सर्पिणी काल में वे सभी विपरित क्रम में होते हैं। उत्सर्पिणी काल दुषमा-दुषमा आरे से आरंभ होकर सुषमा-सुषमा पर समाप्त होता है। उनका वर्णन इस प्रकार है -

(1) दुषमा-दुषमा - उत्सर्पिणी काल का पहला दुषमा-दुषमा आरा 21,000 वर्ष का श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन आरंभ होता है। इसका वर्णन अवसर्पिणी काल के छठे आरे के समान ही समझना चाहिए। विशेषता यह है कि इस काल में आयु और अवगाहना आदि क्रमशः बढती जाती है। ह्रास के बाद क्रमिक विकास की ओर समय का प्रवाह बढता है।

(2) दुषमा - इसके अनन्तर दूसरा दुषमा आरा भी 21 हजार वर्ष का होता है और वह भी श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन से आरंभ होता है। इस आरे के आरंभ होते ही पांच प्रकार की वृष्टि संपूर्ण भरत क्षेत्र में होती है। यथा (1) आकाश, घन-घटाओं के आच्छादित हो जाता है और विद्युत के सात दिन-रात तक निरंतर पुष्कर संवर्तक नामक मेघ वृष्टि करते हैं। इससे धरती की उष्णता दूर हो जाती है। (2) इसके पश्चात सात दिन वर्षा बंद रहती है। फिर सात दिन पर्यन्त निरन्तर दुग्ध के समान क्षीर नामक मेघ बरसते हैं, जिससे सारी दुर्गन्ध दूर हो जाती है। फिर सात दिन तक वर्षा बंद रहती है। फिर (3) घृत नामक मेघ सात दिन-रात तक निरन्तर बरसते रहते हैं। इससे पृथ्वी में स्निग्धता आ जाती है। (4) फिर लगातार सात दिन-रात तक निरन्तर अमृत के समान अमृत नामक मेघ बरसते हैं। इस वर्षा से 24 प्रकार के धान्यों के तथा अन्यान्य सब वनस्पतियों के अंकुर जमीन में से फूट निकलते हैं। (5) फिर सात दिन खुला रहने के बाद ईख के रस के समान रस नामक मेघ सात दिन-रात तक निरन्तर बरसते हैं, जिससे वनस्पति में मधुर, कटुक, तीक्षण, कषैले और अम्ल रस की उत्पत्ति होती है।

पांच सप्ताह वर्षा के और दो सप्ताह खुले रहने के, यों सात सप्ताहों के 7 X 7=49 दिन, श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से भाद्रपद शुक्ला पंचमी तक होते हैं। व्यवहार में उस ही दिन संवत्सरारंभ होने से 49-50वें दिन संवत्सरी महापर्व किया जाता है, इसलिए यह संवत्सरी पर्व भी अनादि से है, अनन्तकाल तक रहेगा।

निसर्ग की यह हरी-भरी निराली लीला देखकर गुफा रूप बिलों में रहने वाले वे मनुष्य चकित हो जाते हैं और बाहर निकलते हैं। मगर वृक्षों और लताओं के पत्ते हिलते देखकर भयभीत हो जाते हैं और फिर अपने बिलों में घुस जाते है। किंतु बिलों में भीतर की दुर्गन्ध से घबराकर फिर बाहर निकलते हैं। प्रतिदिन यह देखते रहने से उनका भय दूर होता है और फिर निर्भय होकर वृक्षों के पास पहुंचते हैं। फिर फलों का आहार करने लगते हैं। फल उन्हें मधुर लगते हैं और तब वे मांसाहार का परित्याग कर देते हैं। मांसाहार से उन्हें इतनी घृणा हो जाती है कि वे जातीय नियम बना लेते हैं कि अब जो मांस का आहार करे, उसकी परछाई में भी खडा नहीं रहना। इस प्रकार धीरे-धीरे जाति-विभाग भी हो जाते हैं और पांचवें आरे के समान (वर्तमानकाल जैसी) सब व्यवस्था स्थापित हो जाती है। वर्णादि की शुभ पर्यायों में अनंत गुणी वृद्धि होती है।

(3) दुषमा-सुषमा - यह आरा 42 हजार वर्ष कम एक कोडा कोडी सागरोपम का होता है। इसकी सब रचना अवसर्पिणी काल के चौथे आरे के समान ही होती है। इसके तीन वर्ष और 8.5 महीना व्यतीत होने के बाद प्रथम तीर्थंकर का जन्म होता है। पहले कहे अनुसार इस आरे में 23 तीर्थंकर, 11 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेव आदि होते हैं। पुद्गलों की वर्ण आदि शुभ पर्यायों में अनंत गुणी वृद्धि होती है।

(4) सुषमा-दुषमा - तीसरा आरा समाप्त होने पर चौथा सुषमा-दुषमा आरा दो कोडाकोडी सागरोपम का आरंभ होता है। इसके 84 लाख पूर्व, 3 वर्ष और 8.5 महीने बाद चौबीसवें तीर्थंकर मोक्ष चले जाते हैं, बारहवें चक्रवर्ती की आयु पूर्ण हो जाती है। करोड पूर्व का समय व्यतीत होने के बाद कल्पवृक्षों की उत्पत्ति होने लगती है। उन्हीं से मनुष्यों और पशुओं की इच्छा पूर्ण हो जाती है। तब असि, मसि, कृषि आदि के काम-धंधे बंद हो जाते हैं। युगल उत्पन्न होने लगते हैं। बादर अग्निकाय और धर्म का विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथे आरे में सब मनुष्य अकर्मभूमिक बन जाते हैं। वर्ण आदि की शुभ पर्यायों में वृद्धि होती है।

(5) सुषमा - तत्पश्चात् सुषमा नामक तीन कोडाकोडी सगारोपम का पांचवा आरा लगता है। इसका विवरण अवसर्पिणी काल के दूसरे आरे के समान है। वर्ण आदि की शुभ पर्यायों में क्रमशः वृद्धि होती जाती है।

(6) सुषमा-सुषमा - फिर चार कोडाकोडी सागरोपम का छठा आरा लगता है। इसका विवरण अवसर्पिणी काल के प्रथम आरे के समान है। वर्ण आदि की शुभ पर्यायों में अनंत गुणी वृद्धि होती है।

इस प्रकार दस कोडाकोडी सागरोपम का अवसर्पिणी काल और दस कोडाकोडी सागरोपम का उत्सर्पिणी काल होता है। दोनों मिलकर बीस कोडाकोडी सागरोपम का एक काल-चक्र कहलाता है। भरत और ऐरवत क्षेत्र में यह काल-चक्र अनादि काल से घूम रहा है और अनंतकाल तक घूमता रहेगा। अन्य क्षेत्रों पर काल-चक्र का प्रभाव नहीं पडता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

24वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी

वर्तमान अवसर्पिणी काल में 24 तीर्थंकरों की जो परम्परा भगवान ऋषभदेव के जीवन चारित्र से प्रारंभ हुई थी, उसके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी हुए हैं। 23वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के 250 वर्ष पश्चात् और ईसा पूर्व छठी शताब्दी (6th Century B.C.)अर्थात् आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने जनमानस को कल्याण का मार्ग बताया था।

आचारांग सूत्र के नवें अध्ययन तथा कल्पसूत्र में हमें भगवान महावीर के जीवन-दर्शन का सुन्दर विवेचन मिलता है। भगवान महावीर एक जन्म की साधना में ही महावीर नहीं बने, मानव से महामानव के पद पर नहीं पहुंचे। अनेक जन्म-मरण की परम्पराओं से गुजरते हुए 'नयसार' के भव में उन्होंने विकास की सही दिशा पकड़ी, सम्यग् दर्शन को प्राप्त किया और सत्ताइसवें भव में वे महावीर बनें।

यह मुख्य 27 भव रहे। इसके अलावा कई क्षुल्लकभव (छोटे-छोटे) भी किए।

पूर्व भवों का संक्षिप्त उल्लेख :-

पहला भव - इस जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह में प्रतिष्ठान पट्टन में नयसार नामक राजा का ग्रामचिंतक एक नौकर था, वह एक समय राजा की आज्ञा को पाकर बहुत से गाड़े और नौकर साथ में लेकर लकड़ियां लेने के लिए वन में गया, वहां एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था, उस समय कुछ साधु महाराज वहां पधारे, उनको नयसार ने देखा, सामने बहुमान पूर्वक जाकर वंदन करके अपने स्थान पर ले आया, अपने भाते में से उच्च भाव से आहार बहराकर, उनसे कुछ धर्म सुना और उन्हें रास्ता बता दिया। मुनियों को आहार देने से और वंदन करने से नयसार ने यहां पर सम्यक्त्व उपार्जन किया।

दूसरा भव - नयसार का भव पूरा करके भगवान महावीर का जीव पहले देवलोक में देव हुआ।

तीसरा भव - देवलोक से च्यवकर ऋषभदेव स्वामी का पौत्र-भरत चक्रवर्ती का पुत्र मरिची नाम का हुआ - एक समय ऋषभदेव प्रभु की देशना सुनकर दीक्षा अंगीकार कर ली। कुछ दिनों के बाद मरिची दीक्षा पालन में असमर्थ हुआ, इससे साधु वेष त्याग कर त्रिदण्डी वेष धारण किया, पैर में खड़ाउ रखे, मस्तक मुंडाने लगा जल कमण्डलु धारण किया और गेरु के रंगे हुए वस्त्र पहनने लगा, समवसरण के बाहर इस ढंग से रहता है, जो लोग उसके पास धर्म सुनने को आते, उनको प्रतिबोध देकर भगवंत के पास दीक्षा लेने भेज देता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक समय भरत चक्रवर्ती ने प्रभु को वंदन कर प्रश्न पूछा? स्वामिन्! इस अवसर्पिणी में कितने तीर्थंकर होंगे? प्रभु ने फरमाया चौबीस होंगे, फिर पूछा हे भगवंत! इस समवसरण में भावी तीर्थंकर का कोई जीव है? परमात्मा ने फरमाया - समवसरण के बाहर द्वारदेश पर त्रिदण्डी का वेष धारण किया हुआ तेरा पुत्र मरिची बैठा है वह 'महावीर' नाम का चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा, उसके पहले वह इस भरत क्षेत्र में त्रिपृष्ट नाम का वासुदेव होगा, फिर महाविदेह के अन्दर मूका नगरी में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती होगा। प्रभु के श्रीमुख से यह वृतान्त सुनकर हर्षित होता हुआ, प्रभु की आज्ञा लेकर भरत प्रसन्न चित्त से मरिची को नमस्कार कर इस प्रकार बोला-अहो मरिची! आप भरत क्षेत्र में पहले वासुदेव होंगे, बाद में महाविदेह में प्रियमित्र नाम के चक्रवर्ती होंगे, पश्चात इसी भरत क्षेत्र में चौबीसवें तीर्थंकर होंगे, इसीलिए मैं आपको वंदन करता हूं, चक्रवर्त्यादि पद तो संसार भ्रमण का कारण है पर - ''जिस तरह वर्तमान जिन वन्दनीक है, इसी तरह भावी जिन भी वन्दनीक है'' - ऐसा कह कर वंदन करते हुए भरत चक्रवर्ती अपने महल पर चले गये तब मरिची यह बात सुनकर प्रसन्न मन होता हुआ इस प्रकार अहंकार के वचन बोला - मेरे पिता चक्रवर्ती, मेरे दादा तीर्थंकर और मैं तीर्थंकर, चक्रवर्ती और वासुदेव यह विशेष पद पाकर तीनों ही पदवियां प्राप्त करूंगा। इससे मेरा कुल अत्युत्तम है, ऐसा कह कर अपनी भुजाओं को बारंबार उछालता हुआ नाचने लगा, इस प्रकार कुलमद और गोत्रमद करके मरिची ने नीच गोत्र उपार्जन किया।

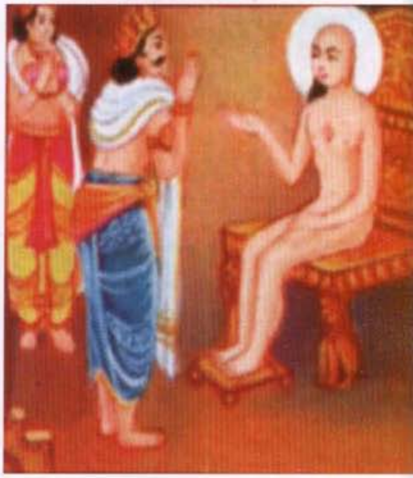

एक समय मरिची के शरीर में व्याधि उत्पन्न हुई, तब मरिची ने सोचा कि मेरा शरीर ठीक हो जाने पर मैं एकाद शिष्य बना लूं, जिससे मेरी बीमारी में सेवा करने में काम आवे, कुछ समय के पश्चात् मरिची स्वस्थ हो गया, तब कपिल (गौतम स्वामी का जीव) नाम का एक राजपुत्र मरिची के पास आया, उससे धर्म सुनकर प्रतिबोध को प्राप्त हुआ, कपिल ने प्रार्थना की मुझे दीक्षा दीजिये। मरिची ने कहा - ऋषभदेव स्वामी के पास जाकर दीक्षा ले लो, तब कपिल ने कहा - क्या आपके पास धर्म नहीं?

मरिची ने विचारा - यह मेरे योग्य है, तुरन्त कहा प्रभु के पास भी धर्म है व मेरे में भी धर्म अवश्य है, नहीं क्यों? अच्छी तरह दीक्षा ग्रहण करो - यहां पर स्वार्थ की खातिर उत्सूत्र परूपणा की जिससे कोटाकोटि सागर प्रमाण भ्रमण (संसार-भ्रमण) उपार्जन किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथे भव से सोलहवें भव तक -

4. चौथे भव में मरिची चोरासी लाख का आयुष्य पूर्णकर समाधि पूर्वक मर कर पांचवें देव लोक में देवपने उत्पन्न हुआ।

5. पांचवे भव में ब्राह्मण हुआ, तापसी दीक्षा लेकर अज्ञान तप किया।

6. छठे भव में देव हुआ।

7. सातवें भव में ब्राह्मण हुआ, तापसी दीक्षा ली।

8. आठवें भव में देव हुआ।

9. नौवें भव में ब्राह्मण हुआ - तापसी दीक्षा ली।

10. दसवें भव में देव हुआ।

11. ग्यारहवें भव में ब्राह्मण हुआ, तापसी दीक्षा ली।

12. बारहवें भव में देव हुआ।

13. तेरहवें भव में ब्राह्मण हुआ, तापसी दीक्षा ली।

14. चौदहवें भव में देव हुआ।

15. पन्द्रहवें भव में ब्राह्मण हुआ, तापसी दीक्षा ली।

16. सोहलवें भव में देव हुआ।

देव भव में च्यवकर कर्म वशात् बहुत से क्षुल्लक भव किये।

सतरहवां भव :- विश्वभूति

अनेक जन्मान्तरों के बाद 17वें भव में मरीची की आत्मा ने राजगृह नगर में राजा विश्वनंदी के छोटे भाई युवराज विशाखभूति के पुत्र विश्वभूति के रूप में जन्म लिया। इस जन्म में मुनि दीक्षा लेकर उग्र तपश्चरण किया।

किसी एक समय विश्वभूति मुनि विहार करते हुए मथुरा नगरी में पधारे, मास क्षमण के पारणे के हेतु गोचरी के लिए जाते हुए विश्वभूति साधु को गाय ने गिरा दिया, यह स्थिति ससुराल में आये हुए विशाखनन्दी ने गवाक्ष में बैठे हुए देखी, तब उसने साधु की दिल्लगी (मश्करी) की - अहो विश्वभूते! तुम्हारा अब वह बल कहां चला गया है? जिसके द्वारा एक मुठ्ठीमात्र से तुमने सर्व कबीट के फलों को तड़ातड़ नीचे गिरा दिये थे, यह सुनकर उसने ऊपर देखा, विशाखनन्दी को पहचान कर विश्वभूति साधु के मन में अहंकार उत्पन्न हो गया कि देखो! 'यह पामर अब तक भी मेरी हंसी करता है, इसके मन में बड़ा गर्व है, यह जानता होगा कि इसका बल नष्ट हो गया है, यह तो अब भिक्षुक है, मगर मेरे में बल-पराक्रम मौजूद है, इस को जरा नमूना दिखा दूं'- यह सोच कर उसी गाय को सींग से पकड़कर मस्तक पर घुमाकर जमीन पर रखदी और विशाखनन्दी को फटकार कर कहा-अहो! मेरा बल कहीं नहीं गया है, यदि मेरा तप का फल हो तो भवान्तर में मैं तेरा मारने वाला बनुं! ऐसा नियाणा (निदान) किया। बहुमूल्य की वस्तु के बदले अल्पमूल्य की वस्तु मांगना उसे नियाणा कहते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अठारहवां भव - विश्वभूति मुनि एक करोड़ वर्ष तक चारित्र पालकर अन्त समय अनसन कर देवलोक में देवपने उत्पन्न हुए।

उन्नीसवां भव - त्रिपृष्ठ वासुदेव :

विश्वभूति का जीव आयुष्य पूर्णकर महाशुक्र देवलोक में गया और वहां से पोतनपुर के राजा प्रजापति की रानी मृगावती के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। गर्भ काल में रानी ने सात शुभ स्वप्न देखे, संपूर्ण मास होने पर पुत्र का जन्म हुआ। नाम रखा गया त्रिपृष्ठ। विश्वभूति मुनि के जन्म में की हुई तपस्या और सेवा, वैयावृत्य आदि के फलस्वरूप **त्रिपृष्ठ** अद्‌भुत पराक्रमी, साहसी और तेजस्वी राजकुमार बना।

इस अवसर पर शंखपुर नगर के पास तुडीया पर्वत की गुफा में विशाखनंदी का जीव सिंहपने उत्पन्न हुआ, उस पर्वत के पास ही अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव का शालीक्षेत्र (चावलो का खेत)था, उस खेत की रक्षा के लिए जो भी आदमी रखा जाता था उसको सिंह बहुत हैरान करता था। इस तरह वर्षों-वर्ष प्रतिवासुदेव राजा अपने सेवकों को खेत की रक्षा के लिए भेजता था, एक दिन खुद प्रजापति राजा का नम्बर आ गया तब पिताजी की आज्ञा हासिल कर त्रिपृष्ठ अचल बंधु को साथ लेकर शालीक्षेत्र के पास पहुंचा, सिंह गुफा में बैठा हुआ था, त्रिपृष्ठ कवच पहन कर शस्त्र धारण किये हुए रथ में बैठकर गुफा के समीप पहुंचा, रथ के चीत्कार शब्द सुनकर सिंह उठा, उसे देख कर त्रिपृष्ठ ने विचार किया - यह शस्त्र और कवच को धारण किया हुआ नहीं है, और रथ पर सवार भी नहीं है इसलिए मुझे भी सब छोडकर इसके साथ युद्ध करना चाहिए। सर्व-वस्तुओं का त्याग कर सिंह को आवाज देकर छलांग मारी और उसके दोनों होठ जीर्ण वस्त्र के माफिक चीर दिये, सिंह जमीन पर धड़ाम से गिर गया, मगर उसके प्राण नहीं निकलते, तब सार्थी ने कहा - अहो सिंह! जैसे तुम मृगराजा या वनराजा हो वैसे ही यह तुमको मारने वाला नरराजा है, जैसे-तैसे सामान्य आदमी ने तुम्हें नहीं मारा है, यह सुनते ही सिंह के प्राण निकल गये, मर कर नरक में गया।

एक समय अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव को त्रिपृष्ठ ने मार डाला तब से त्रिपृष्ठ नरेन्द्र को वासुदेव पदवी प्राप्त हुई। एक समय वासुदेव अपनी शैय्या पर लेट रहे थे, बाहर से आये हुए गायक लोग मधुर गान सुना रहे थे, त्रिपृष्ठ ने अपने शैय्यापालक को यह आदेश किया कि मुझे नींद आ जाने पर संगीत बंद कर देना, वासुदेव निद्राधीन हो गया तथापि गायन का मधुर रस आस्वादन होने से गायन बन्द नहीं किया, क्षण भर में राजेन्द्र की निद्रा खुल गई, तब रुष्ट होकर शीघ्र ही शैय्यापाल के कानों में उकलता हुआ, कथीर (शीशा) डलवा दिया, वह मरकर नरक में गया, वासुदेव ने 84 लाख वर्ष का आयुष्य भोगा।

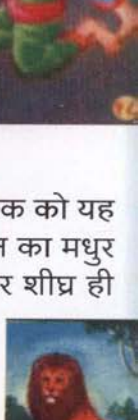

बीसवें भव में - त्रिपृष्ठ वासुदेव का जीव मर कर सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ।

इक्कीसवें भव में - सिंह हुआ ।

बावीसवें भव में - चौथी नरक में उत्पन्न हुआ, नरक से निकल कर तिर्यंच और मनुष्य भव संबंधी कई क्षुल्लक भव किये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेवीसवां भव - पश्चिम महाविदेह के अंदर मूक नाम की नगरी में धनंजय राजा राज्य करता था, उसकी धारिणी नाम की रानी के गर्भ में मरिची का जीव तेवीसवें भव में उत्पन्न हुआ, उस समय माता ने चौदह स्वप्न देखे, समय पर पुत्र उत्पन्न हुआ, **प्रिय मित्र** नाम रखा, युवा अवस्था को पहुंचा चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। 84 लाख पूर्वों का आयुष्य पालन कर अन्त अवस्था में दीक्षा ली, एक करोड़ वर्ष तक चारित्र पालन कर समाधि मरण हुआ।

चौबीसवें भव में सातवें देवलोक में सत्तरह सागरोपम की आयुष्य वाला देव हुआ।

पच्चीसवें भव में - इसी जंबूद्वीप के भरत क्षेत्रान्तर्गत छत्राग्रा पुरी में नंदन नाम का राजा हुआ, चौवीस लाख वर्ष तक गृहवास में रहकर पोट्टिलाचार्य महाराज के पास दीक्षा अंगीकार की।

एक लाख वर्ष तक 11,80,635 मास क्षमण-मास क्षमण का पारणा कर तपश्चर्या की, वहां पर बीस स्थानक पदों की आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन किया।

छबीसवें भव में - पूर्व भव में निर्मल चारित्र पाल कर दशम(प्राणत) देवलोक के पुष्पोत्तर प्रवर पुण्डरीक विमान में बीस सागरोपम की आयुष्य वाला देव हुआ।

सतावीसवां भव -

च्यवन कल्याणक गर्भावतार- देवलोक से मनुष्य लोक में अवतरण

केवल मनुष्य शरीर से ही जन्म लेने वाले तीर्थंकर अंतिम भव से पूर्व जन्म में तिर्यंच और मनुष्य के अतिरिक्त देव अथवा नरक गति में से किसी भी एक गति में होते है। श्रमण भगवन्त महावीर देव तीन ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि) सहित प्राणत देवलोक से च्यवकर आषाढ़ शुक्ला छठ के दिन ब्राह्मण कुल में कोडाल गोत्रीय श्री ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नि देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में पधारे।

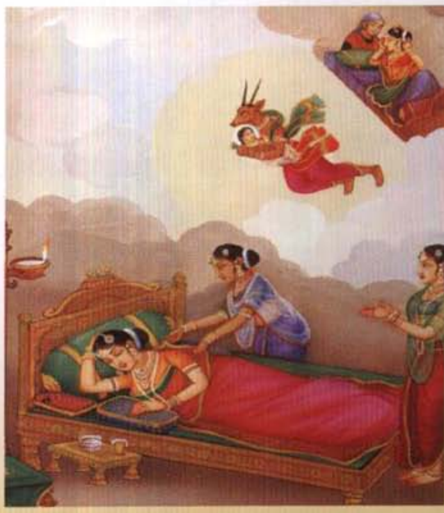

देवानन्दा द्वारा स्वप्नकथन तथा शक्रेन्द्र का हरिणैगमेषी को आदेश व गर्भ-परावर्तन

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव जैसी लोकोत्तर आत्मा के लिये सामान्य नियम ऐसा है कि वह अन्तिम भव में उच्च, उग्र, भोग, क्षत्रिय इक्ष्वाकु, ज्ञात, कौरव्य,हरिवंश आदि विशाल कुलों में उत्पन्न होते हैं। 83 दिन के बाद सौधर्म देवलोक के इन्द्र ने हरिनैगमेषी को बुलाया तथा गर्भपरावर्तन का आदेश देते हुए कहा कि तुम शीघ्र ब्राह्मणकुण्ड नगर में जा और देवानन्दा की कोख से भगवान के गर्भ को लेकर उत्तर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षत्रियकुण्ड नगर में विराजमान राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के गर्भ में उसे स्थापित कर और त्रिशला के गर्भ को ले जाकर देवानन्दा की कुक्षि में रख आ।

इन्द्र की आज्ञा पाते ही हरिणैगमेषी देव बिजली से भी तेज गति से मध्यरात्रि में ब्राह्मणकुण्ड नगर में पहुंचकर ऋषभदेव की हवेली मे प्रविष्ट हो, उसकी निद्राधीन पत्नि देवानन्दा की कुक्षि से दैवी शक्ति द्वारा गर्भ को कर-कमल में लेकर, आकाश मार्ग से गया और पास में ही स्थित क्षत्रियकुण्ड नगर में आता है तथा ज्ञातक्षत्रिय, काश्यपगोत्रीय और ज्ञातृकुल के राजा सिद्धार्थ के राजभवन में जाकर, तन्द्राग्रस्त रानी त्रिशला के शयनागार में आकर, पहले उसकी कुक्षि में स्थित पुत्री रूप गर्भ को बाहर निकालकर वहां भगवान के गर्भ को स्थापित करता है। और पुत्रीरूप गर्भ को ले जाकर सोई हुई देवानन्दा के गर्भ में रख देता है। मरीचि के भव में किये गये कुल मद के फल-स्वरूप अन्तिम भव में भी ब्राह्मणकुल में भगवान को अवतरित होना पड़ा। इसलिये कुल, सम्पत्ति अथवा विद्या, कला आदि का कभी अभिमान नहीं करना चाहिए।

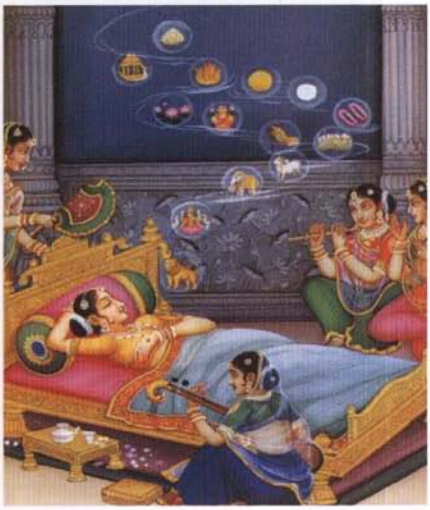

क्षत्रियाणी त्रिशला रानी को चौदह महास्वप्नों के दर्शन

त्रिशला के गर्भाशय से भगवान का गर्भ स्थापित होने के बाद माता त्रिशला मध्य रात्रि में 1. सिंह 2. हाथी 3. वृषभ 4. लक्ष्मी देवी 5. पुष्पमाला युगल 6. चन्द्र 7. सूर्य 8. ध्वजा 9. पूर्ण कलश 10. पद्म सरोवर 11. क्षीर सागर 12. विमान (भुवन) 13. रत्नों की राशि 14. निर्धूम अग्नि इन चौदह महास्वप्नों को देखती है। प्रथम माता देवानन्दा ने तन्द्रावस्था में चौदह महास्वप्न देखे।

स्पष्टीकरण :- 1. प्रथम तीर्थंकर की माता पहले स्वप्न में वृषभ, अन्तिम तीर्थंकर की माता सिंह और शेष बाईस तीर्थंकरों की माता हाथी देखती है।

2. जब तीर्थंकर का जीव देवलोक से च्यवता है तो माता स्वप्न में विमान देखती है और जब नरक से च्यवता है तो भुवन देखती है।

3. तीर्थंकर या चक्रवर्ती की माता चौदह स्वप्न, वासुदेव की माता सात स्वप्न, बलदेव की माता चार और मांडलिक की माता एक स्वत्न देखती है।

जन्म कल्याणक का उत्सव (दिक्कुमारिकोत्सव)

कालचक्र का चौथा आरा दुषम-सुषमा चल रहा था। पंचम आरा शुरू होने में 74 वर्ष, 11 महीने, साढ़े 7 दिन बाकी थे। ग्रीष्म ऋतु थी। चेत्र सुदी तेरस के दिन 9 मास साढ़े 7 दिन पूरे होने पर मध्यरात्रि की बेला में क्षत्रियकुण्ड ग्राम में माता त्रिशला की कुक्षि से भगवान महावीर का जन्म हुआ। शाश्वतनियमानुसार जन्म के पुण्य-प्रभाव से प्रसूति-कार्य की अधिकारिणी 56 दिक्कुमारिका देवियों के सिंहासन डोलने पर विशिष्ट ज्ञान से भगवान के जन्मप्रसंग को जानकर अपना कर्तव्य पालन करने के लिये वे देवियां जन्म की रात्रि में ही देवी शक्ति से शीघ्र ही जन्मस्थान पर आती हैं और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान तथा उनकी माता को नमस्कार करके भव्य कदलीगृहों में दोनों की स्नान, विलेपन, वस्त्रालंकार-धारण आदि से भक्ति करके भगवान के गुणगानादि कर शीघ्र बिदा होती हैं।

इन्द्र का मेरूपवर्त पर प्रति गमन

जन्म के समय सौधर्म देवलोक के 'शक्र' इन्द्र अवधिज्ञान द्वारा भगवान के जन्म को जानकर सत्वर वहीं रहते हुए दर्शन-वंदन और स्तुति करते हैं, तत् पश्चात तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का उत्सव मेरु पर्वत पर जाकर स्वयं के द्वारा आयोजित करने की दृष्टि से देवलोक के अन्य देव-देवियों को अपने साथ उत्सव में पधारने का आमंत्रण देते है, आमंत्रण को भाव से स्वीकार कर असंख्य देव-देवियां भी तथा तिरसठ इन्द्र मेरु पर्वत पर पहुंचते है, जब कि शक्रेन्द्र जन्म की रात्रि में ही सीधे पृथ्वी पर आकर, त्रिशला के शयनागार में जाकर, माता सहित भगवान को नमस्कार करते हैं और अवस्वापिनी नामक दैविक शक्ति से उन्हें निद्राधीन करके आज्ञानुसार भक्ति का पूरा लाभ लेने के लिये शीघ्र अपने ही शरीर के वैक्रियलब्धि-शक्ति से पांच रूप बनाकर एक रूप से दोनों हाथ में भगवान को लेकर, अन्य रूपों से छत्र-चामर और वज्र धारण करके जम्बूद्वीप के केन्द्र में विराजमान नन्दनवन तथा जिनमन्दिरों से सुशोभित मेरु पर्वत पर ले जाते हैं।

मेरू पर्वत पर जन्म कल्याणक का उत्सव (स्नात्राभिषेकोत्सव)

शकेन्द्र मेरु पर्वत पर भगवान को लाकर स्वयं पर्वत के शिखर पर स्थित एक पांडुक शिला पर बैठकर भगवान को अपनी गोद में रखते हैं। उस समय परमात्मा की भक्तिपूर्वक आत्मकल्याण के इच्छुक शेष 63 इन्द्र तथा असंख्य देव-देवियां एकत्र होते हैं। इन्द्र अभिषेक के लिए पवित्र-तीर्थस्थलों की मृत्तिका तथा नदी-समुद्रों के सुगन्धित औषधियों से मिश्रित जल के सुवर्ण, चांदी और रत्नों के हजारों महाकाय कलश तैयार कराने के पश्चात इन्द्र का आदेश मिलने पर इन्द्रादिक देव-देवियां अपूर्व उत्साह और आनंद के साथ कलशों को हाथ में लेकर, भगवान का स्नानाभिषेक करते हैं। अन्त में शक्रेन्द्र स्वयं अभिषेक करता है। तदनन्तर भगवान के पवित्र देह को चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य से विलेपन कर, आरती-दीपक उतारकर अष्टमंडलों का आलेखन करते हैं। अन्य देव तथा देवियां भगवान की स्तुति और गीत-नृत्यों के द्वारा आनंद व्यक्त करती हैं। फिर प्रातःकाल से पूर्व ही भगवान को त्रिशला के शयनागार में लाकर पास में सुला देते हैं और देवगण अपने स्थान पर चले जाते हैं। यह जन्म महोत्सव उसी रात्रि में ही मना लिया जाता है।

नामकरण

श्री महावीर प्रभु के गर्भ में आने के पश्चात् राजा सिद्धार्थ के घर में सभी प्रकार का वैभव बढ़ने लगा। यह अनुभव करके राजा सिद्धार्थ और त्रिशला रानी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने विचार किया कि पुत्र के गर्भ में आने के पश्चात् हमारे यहां उत्तम पदार्थों की वृद्धि हुई है अतः बालक का नाम वर्धमान रखा गया।

भगवान महावीर का गृहस्थ जीवन :-

भगवान वर्धमान की निर्भयता की देव परीक्षा और 'महावीर' नामस्थापना

नगर के बाहर एक पीपल का वृक्ष था, वहां सब लड़के इकट्ठे होकर दौड़ लगाते थे, वहां भगवान भी क्रीड़ा करने लगे, उस खेल का यह नियम था कि नियत स्थान से दो बालक एक साथ दौड़े जो पहले झाड़ पर चढ़ जाए वह जीता और दूसरा हारा तथा जीता हुआ बालक हारे हुए बालक के कंधे पर बैठकर जहां से दौड़ लगाई थी वहां तक ले जाय। इस समय इन्द्र ने देवों के सामने वर्धमान के बल का वर्णन किया कि - सर्व देव व दानव मिलकर वर्धमान को डरावें फिर भी वर्धमान नहीं डर सकते, यह वचन सुनकर एक मिथ्यात्वी देव अश्रद्धा कर वर्धमान के पास बालक का रूप बनाकर आया और साथ में क्रीड़ा करने लगा, महावीर अति शीघ्र गति से देव के आगे दौड़ गये और देव का विकुर्वित फूंफाड़े करते हुए सर्प को पकड़ कर उसके सहारे पीपल के वृक्ष पर चढ़ गये, मन में तनिक भी भयभीत न हुए, इस वक्त देव बालक हार गया और वर्धमान जीत गये, तब उस देव बालक ने वर्धमान को अपने कंधें पर चढ़ाया, भगवान को डराने के लिए देव ने अपना शरीर लम्बा करना शुरू किया, एक ताड़-दो ताड़ यावत् सात ताड़ के वृक्ष जितना लम्बा किया, यह देखकर समस्त लड़के भागे और सिद्धार्थ राजा को सब हाल जाकर कहा, मगर वर्धमान लेशमात्र भी भयभीत न हुए, तथापि माता-पिता की चिन्ता निवारण करने के लिए वर्धमान ने उस देव के मस्तक पर वज्रमय मुष्टि का प्रहार किया जिससे वह देव आक्रन्द शब्द करता हुआ धराशायी हो गया और बड़ा भारी लज्जित होकर अपना स्वरूप प्रकट किया, उस समय इन्द्र महाराज भी वहां आ गये, उन्होंने भगवंत के चरणों में उसे नमन कराया और स्वर्ग में ले गये, मुष्टि प्रहार से देव का मिथ्यात्व नष्ट होकर सम्यकत्व उपार्जन हो गया। यहां पर भगवान का महावीर नाम प्रसिद्ध हुआ।

भगवान महावीर के और भी अनेक नाम उपलब्ध होते हैं, यथा -

1. वर्धमान :- माता-पिता के द्वारा प्रदत्त नाम।
2. महावीर :- देवों द्वारा प्रदत्त नाम।
3. ज्ञातपुत्र :- पितृवंश के कारण प्राप्त नाम ।
4. सन्मति :- मति सत्य के कारण प्राप्त नाम।
5. काश्यप :- काश्यप गोत्र के कारण।
6. देवार्य :- देवों के आदरणीय होने के कारण।
7. विदेह पुत्र :- मां त्रिशला का विदेह कुल की होने के कारण।
8. श्रमण :- सहज स्वाभाविक गुणों के कारण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानज्योति का ज्ञानशाला में अपूर्व प्रकाश

महावीर प्रारंभ से ही प्रतिभा-सम्पन्न थे। उन्हें अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त था, पर वे दूसरों के सामने उसका प्रदर्शन नहीं करते थे। अर्थात् महान विचार शक्ति, श्रेष्ठ शास्त्रीय ज्ञान तथा परोक्ष पदार्थों को मर्यादित रूप से प्रत्यक्ष देख सके ऐसे ज्ञान के धारक होते है। ऐसे महाज्ञानी बालक को क्या पढ़ाना शेष रह जाता है? तथापि मोहवश माता-पिता अपने प्रिय पुत्र को पढ़ाने के लिए धूम-धाम से ज्ञानशाला ले जाते है। इन्द्र ने यह सब देखा और सोचा यह बालक तो अतीन्द्रिय ज्ञान से संपन्न हैं, अध्यापक इसे क्या पढ़ायेगा? पिता सिद्धार्थ ने बालक को पढ़ने के लिए पाठशाला भेजा। अध्यापक उन्हें पढ़ाने लगे और वे विनयपूर्वक सुनते रहे। तब इन्द्र, एक ब्राह्मण का रूप बनाकर अध्यापक के पास पहुंचे। व्याकरण संबंधी अनेक जिज्ञासाएं प्रस्तुत की, अध्यापक उनका समाधान नहीं दे सके। तब बालक वर्धमान से पूछने पर वह सहज भाव से सारे प्रश्नों के उत्तर दे दिये। अध्यापक को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे - यह तो स्वयं दक्ष है, इसे मैं क्या पढ़ाउंगा। इन्द्र ने अपना रूप बदलकर महावीर का परिचय दिया। अध्यापक ने पहले दिन ही उसे पाठशाला से मुक्त कर दिया।

वर्धमान-महावीर का लग्न प्रसंग

वर्धमान कुमार जब बाल भाव को छोड़कर विवाह योग्य हुए तब माता-पिता के अति आग्रह के कारण शुभ मुहूर्त में समरवीर सामन्त राजा की पुत्री यशोदादेवी के साथ विवाह किया, उससे एक पुत्री का जन्म हुआ उसका नाम प्रियदर्शना रखा, जिसका विवाह भगवान के भानजे जमाली के साथ कर दिया गया।

दीक्षा की अनुमति के लिए ज्येष्ठ भ्राता नंदीवर्धन से प्रार्थना और शोक

महावीर के माता-पिता भगवान पार्श्व की परंपरा के उपासक थे। महावीर जब अट्ठाईस वर्ष के हुए तब उनका स्वर्गवास हो गया। माता-पिता की उपस्थिति में दीक्षा न लेने की प्रतिज्ञा पूरी हो गई, वे श्रमण बनने के लिए उत्सुक हो गए। त्याग और वैराग्य मूलक साधुधर्म को स्वीकृत करने की अपनी भावना अपने ज्येष्ठ-बंधु नन्दिवर्धन के समक्ष विनयपूर्वक प्रस्तुत की। बड़े भाई चिन्ता में पड़ गये। अन्त में उन्होंने सोचा कि विश्व को प्रकाशित करने वाली ज्योति को एक छोटे से कोने को प्रकाशित करने के लिये कैसे रोका जा सकता है? इसलिए उनकी भावना का आदर तो किया, किन्तु माता-पिता के वियोग से उत्पन्न तात्कालिक दुःख को और न बढ़ाने के लिये नम्रतापूर्वक दो वर्ष और रुक जाने की प्रार्थना की। श्रीवर्धमान ने वह प्रार्थना आदरपर्वूक स्वीकृत कर ली। एक ईश्वरीय व्यक्ति अपने ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा को शिरोधार्य करे, यह शिष्टता- विनय धर्म के मूलभूत बहुमूल्य आदर्श को उपस्थित कर, प्रजाजनों को इसी प्रकार व्यवहार करने की उज्ज्वल प्रेरणा देने वाली एक अनुपम और अद्भुत घटना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकान्तिक देवों की धर्मतीर्थप्रवर्तन के लिये प्रार्थना

नन्दिवर्धन की प्रार्थना स्वीकृत करने के पश्चात् गृहस्थवेश में भी साधु जैसा सरल और संयमी जीवन बीताते हुए एक वर्ष की अवधि बीत चुकी और भगवान 29 वर्ष के हुए। शाश्वत आचार-पालन के लिए ऊर्ध्वाकाश में रहने वाले एकावतारी नौ लोकान्तिक देव दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए - ' जय जय नंदा! जय जय भद्दा! - अर्थात् 'आपकी जय हो'! आपका कल्याण हो! हे भगवन् सकल जगत के प्राणियों को हितकारी ऐसे धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करो। यों कहकर वे जय-जय शब्द बोलने लगे। श्रमण भगवन्त को तो मनुष्योचित प्रारंभ से ही अनुपम उपयोग वाला तथा केवलज्ञान उत्पन्न हो तब तक टिकनेवाला अवधिज्ञान और अवधि दर्शन था, उससे वे अपने दीक्षा समय को स्वयं जानते थे।

लोगों का दारिद्रय दूर करने के लिए करोड़ों मुद्राओं का वार्षिक दान

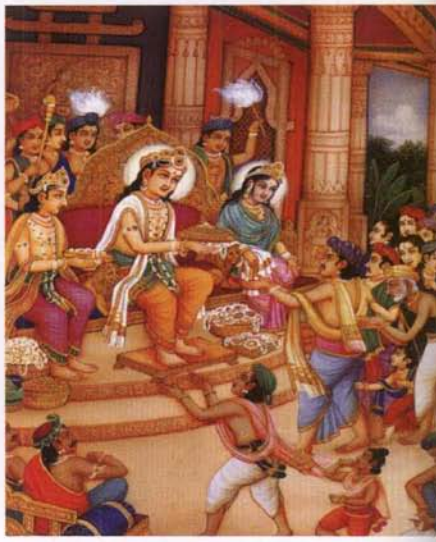

दीक्षा के दिन से एक वर्ष पूर्व प्रभु ने नित्य प्रातःकाल वार्षिकदान प्रारंभ कर दिया। दान देने का समय सूर्योदय से लेकर मध्यान्ह समय तक था। यह दान बिना भेदभाव देते थे। शास्त्रकारों के अनुसार प्रभु प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख और एक वर्ष में तीन सौ अट्ठासी करोड़ और अस्सी लाख सुवर्ण मुद्राओ का दान करते है।

स्वहस्त से केशलुंचन तथा संयम-स्वीकार : दीक्षा कल्याणक

मार्ग शीर्ष कृष्णा दशमी को तीसरे प्रहर में भगवान महावीर ज्ञातखंड उद्यान में दो दिन के उपवास किये हुए वे अशोक वृक्ष के नीचे हजारों मनुष्यों के समक्ष दीक्षा की प्रतिज्ञा के लिये खड़े हुए। समस्त वस्त्रालंकारों का त्याग करके स्वयं ही दोनों हाथों से पंचमुष्टि-लोच करते हुए चार मुष्टि से मस्तक और एक मुष्टि से दाढ़ी-मूंछ के केश अपने हाथों से शीघ्र खींचकर दूर किये। उन केशों को इन्द्र ने ग्रहण किया। तदनन्तर धीर-गंभीर भाव से प्रतिज्ञा का उच्चारण करते हुए भगवान ने 'णमो सिद्धाणं' शब्द से सिद्धों को नमस्कार करके 'करेमि सामइयं' इस प्रतिज्ञासूत्र का पाठ बोल कर यावज्जीवन का सामायिक-साधुमार्ग स्वीकृत किया। उस समय भगवान ने नये कर्मों को रोकने के लिये तथा पुराने कर्मों का क्षय करने के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों को ग्रहण किया। इन्द्र ने उन के बाएं कन्धे पर देवदूष्य नामक बहुमूल्य वस्त्र को स्थापन किया। उसी समय भगवान को 'मनःपर्यव' नामक चतुर्थ ज्ञान प्राप्त हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महासाधना के लिये भगवान का विहार तथा उपसर्ग

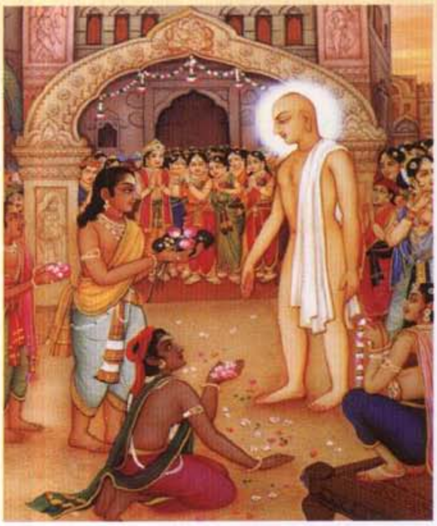

साधना के पथ में केवल गुलाब ही बिछाये हुए नहीं होते, कांटे भी होते हैं। साधक इन कांटों को दूर करके अथवा समभाव-पूर्वक सहन करके आगे बढ़ता है, और कर्मक्षय करता हुआ सिद्धि के सोपान पर चढ़ता हुआ इष्ट सिद्धि के शिखर पर पहुंच जाता है। तीर्थंकरों का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण-प्राप्ति होता है, इसलिये वे सर्वोच्च अवस्था तथा सर्वज्ञपद की प्राप्ति अनिवार्य रूप से करते हैं। इसकी प्राप्ति के लिये उग्र तप और संयमधर्म की आराधना-द्वारा अवरोधक कर्मों का क्षय करना पड़ता है। भगवान ने शीघ्र साधना प्रारंभ कर दी।

एकाकी, वस्त्रविहीनशरीरी, निद्रात्यागी, मौनी, प्रायः (अन्न-जल-रहित) उपवासी, सब प्राणियों के प्रति मैत्री, करुणा-दयाभाव रखते हुए, सभी के आत्म-कल्याण की भावना से पूर्ण, कर्मक्षय के लिये विविध परीषहों को स्वेच्छा से सहन करते हुए, प्रायः खड़े-खड़े ध्यानावस्था में समय-यापन कर, आत्मविशुद्धिपूर्वक आत्मा का उर्ध्वीकरण करते हुए सफलता के सोपान पर चढ़ने लगे। इस समय से साधना के साढ़े12 वर्षों के बीच देव, मनुष्य और तिर्यंचों द्वारा अनुकूल अथवा प्रतिकूल जो कुछ उपसर्ग हुए उन से संबंधित चित्रों का यहां से प्रारंभ होता है।

विहार में दीक्षा लेने से पूर्व शरीर पर लगाये गये सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध से आकृष्ट होकर युवकगण मौनी भगवान के पास सुगन्ध से तथा मनोहर रूप से आकृष्ट होकर युवतियां प्रेम की याचना कर रही हैं।

ग्वाले का प्रतिकूल उपसर्ग और इन्द्र द्वारा अवरोध

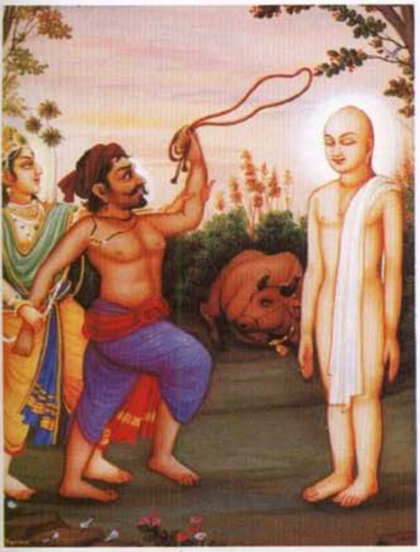

कुमारग्राम में भगवान ध्यान में लीन थे, तभी कुछ ग्वाले वहां आये और अपने बैलों को उन्हें संभलाकर गांव में चले गये। थोड़ी देर बाद पुनः लौटकर आये तो देखा उनके बैल वहां नहीं है। पूछा-बाबा! हमारे बैले यहां चर रहे थे। हम आपको संभलाकर गये थे, वे कहां हैं? भगवान मौन रहे। ग्वाले बैलों को ढूंढने के लिए चल पड़े। सारी रात ढूंढते रहे पर बैल नहीं मिले। संयोगवश वे बैल रात्रि में श्रमण महावीर के पास आकर बैठ गए थे। ग्लालों ने जब प्रातः वहां पर बैलो को बैठे देखा तो क्रुद्ध हो उठे और उन पर कोड़े बरसाने लगे, तभी इन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा और वहां आकर मूर्ख ग्वालों को समझाया - जिन्हें तुम मार रहे हो, वे हमारे तीर्थंकर भगवान हैं। भगवान से इन्द्र ने प्रार्थना की आपकी उम्र बहुत बाकी है, अतः उपसर्ग आयेंगे। आप मुझे अपनी सेवा में रहने की आज्ञा दें। भगवान महावीर ने कहा - ''न भूतं न भविष्यति'' ऐसा न कभी हुआ है और न होगा। अर्हत् कभी दूसरों के बल पर साधना नहीं करते। वे अपने सामर्थ्य से ही कर्मों का क्षय करते हैं। अतः मुझे किसी की सहायता नहीं चाहिए।

शूलपाणि यक्ष का उपसर्ग एवं भगवान महावीर के दस स्वप्न

श्रमण भगवान महावीर की साधना का प्रथम वर्ष चल रहा था। मोराक सन्निवेश में पन्द्रह दिन रहकर आप अस्थिक ग्राम में गए। वहां पर एक व्यंतर गृह में शूलपाणि यक्ष रहता था। जो कोई रात्रि में वहां प्रवास करता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

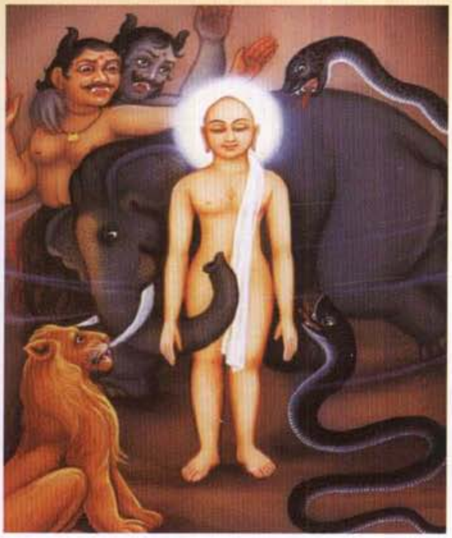

उसे पहले वह कष्ट देता और फिर मार देता। इसलिए उधर आने वाले राहगीर दिन में वहां ठहरकर संध्या के समय अन्यत्र चले जाते। भगवान महावीर ग्रामनुग्राम विचरण करते हुए वहां पधारे।

उन्होंने व्यंतरगृह में रहने की अनुमति मांगी। लोगों ने कहा - आप यहां रह नहीं सकेंगे। हमारी बस्ती में आप ठहरे। महावीर ने इसे अस्वीकार कर दिया क्योंकि वे जानते थे कि वहां रहने से यक्ष को संबोध प्राप्त होगा। अतः व्यंतरगृह में रहने की अनुमति प्राप्त कर महावीर उसमें गये और एक कोने में ध्यान प्रतिमा में स्थित हो गये।

संध्या को भंयकर अट्टहास करता हुआ यक्ष भगवान महावीर को भयभीत करने लगा। अट्टहास से जब भगवान महावीर भयभीत नहीं हुए तब वह हाथी का रूप बनाकर उपसर्ग करने लगा। उससे भी भयभीत नहीं हुए तब उसने पिशाच का रूप बनाया। इतना करने पर भी जब वह महावीर को क्षुब्ध न कर सका तो उसने प्रभात काल में सात प्रकार की वेदना - सिर, कान, आंख, नाक, दांत, नख और पीठ में उत्पन्न की। साधारण व्यक्ति के लिए एक-एक वेदना भी प्राणलेवा थी किन्तु भगवान उन सबको सहते रहे। आखिर प्रभु को विचलित करने में स्वयं को असमर्थ पाकर यक्ष प्रभु महावीर के चरणो में गिर कर बोला - पूज्य! मुझे क्षमा करे।

शूलपाणि के द्वारा भगवान को कुछ न्यून चार प्रहर तक अतीव्र परिताप दिया गया। फलतः प्रभात काल में भगवान को मुहूर्त मात्र नींद आ गई। निद्राकाल में महावीर ने दस स्वप्न देखे और जाग गये। महानैमित्तिक उत्पल ने भगवान महावीर की वंदना की और बोला-स्वामिन्!आपने रात्रि के अन्तिम प्रहर में दस स्वप्न देखे, उनका फलादेश इस प्रकार हैं :-

1. **तालपिशाच** - आपने ताल-पिशाच को पराजित होते हुए देखा। उसके फलस्वरूप आप शीघ्र ही मोहनीय कर्म का उन्मूलन करेंगे।

2. **श्वेत कोयल** - आपने श्वेत पंख वाले पुंस्कोकिल को देखा। उसके फलस्वरूप आप शुक्ल ध्यान को प्राप्त होंगे।

3. **पंच वर्ण विचित्र कोयल** - आपने चित्र-विचित्र पंख वाले पुंस्कोकिल को देखा। उसके फलस्वरूप आप अर्थ रूप द्वादशांगी की प्ररूपणा करेंगे।

4. **दामद्विक** - उत्पल ने कहा - आपने स्वप्न में दो मालाएं देखी हैं, उनका फल मैं नहीं जानता। महावीर ने कहा-उत्पल! जिसे तुम नहीं जानते हो, वह यह है- मैं दो प्रकार के धर्म-अगारधर्म और अनगार धर्म का प्ररूपण करूंगा।

5. **गोवर्ग** - आपने श्वेत गोवर्ग देखा है। उसके फलस्वरूप आपके चतुर्विध संघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) की स्थापना करेंगे।

6. **पद्मसरोवर** - आपने चहुं ओर से कुसुमित विशाल पद्मसरोवर देखा है। उसके फलस्वरूप चार प्रकार के देव आपकी सेवा करेंगे।

7. **महासागर** - आपने भुआजों से महासागर को तैरते हुए अपने आपको देखा। उसके फलस्वरूप आप संसार समुद्र को पार पायेंगे।

8. **सूर्य** - आपने तेज से जाज्वल्यमान सूर्य को देखा। उसके फलस्वरूप आपको शीघ्र ही केवल ज्ञान उत्पन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होगा।

9. अंत्र - आपने अपनी आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित देखा है। उसके फलस्परूप संपूर्ण त्रिभुवन में आपका निर्मल यश, कीर्ति, और प्रताप फैलेगा।

10. मंदरगिरि आपने अपने को मंदराचल(मेरूपर्वत) पर आरूढ़ देखा है। उसके फलस्वरूप आप सिंहासन पर विराजकर आप धर्मोपदेश देंगे।

दरिद्र ब्राह्मण को आधे देवदूष्य वस्त्र का दान

जब भगवान वर्षीदान द्वारा लाखों मानवों का दारिद्रय दूर कर रहे थे, उस समय सोम नामक एक ब्राह्मण द्रव्योपार्जन के लिये परदेश गया हुआ था। वह वहां से धनप्राप्ति किये बिना ही वापस लौट आया। यह देखकर दीनता से त्रस्त उसकी पत्नी ने उपालम्भ देते हुए कहा कि - आप कैसे अभागे है। जब वर्धमानकुमार ने सोने की वर्षा की उस समय आप परदेश चले गये और परदेश से आये तो खाली हाथ वापस आये। अब क्या खाएंगे! अब भी जंगम कल्पवृक्ष जैसे वर्धमान के पास जाओ, वे बहुत दयालु और दानवीर हैं, प्रार्थना करो, वे अवश्य ही दारिद्रय दूर करेंगे। वह ब्राह्मण विहार में भगवान से मिला। उसने दीन-मुख हो प्रार्थना करते हुए कहा कि ''आप उपकारी हैं, दयालु हैं, सब का दारिद्रय आपने दूर किया है, मैं ही अभागा रह गया हूं, हे कृपानिधि! मेरा उद्धार करो।'' अब भगवान के पास कन्धे पर केवल देवदूष्य वस्त्र था, उसमें से उन्होंने आधा भाग चीर कर दे दिया। ब्राह्मण भगवान को वंदन करके आभार मानकर घर गया। उसकी स्त्री ने उसे बुनकर के पास भेजा। बुनकर ने कहा कि इसका बचा हुआ आधा वस्त्र यदि ले आओ तो मैं उसे अखण्ड बना दूं। इस का मूल्य एक लाख दीनार (सुवर्ण-मुद्राएं) मिल जाएंगी और हम दोनों सुखी हो जाएंगे। वह भगवान के पास पहुंचा। लज्जावश वह मांग तो नहीं सका, किन्तु उनके पीछे घूमते-घूमते जब वायु के द्वारा उड़कर वह वस्त्र कांटों में उलझ गिर गया, तब उसे लेकर वह घर पहुंचा। इसके बाद भगवान जीवनभर निर्वस्त्र रहे।

क्रोध-हिंसा में रत दृष्टिविष चंडकौशक सर्प को प्रतिबोध
(क्रोध के आगे क्षमा की, हिंसा के आगे अहिंसा की अद्‌भुत विजय)

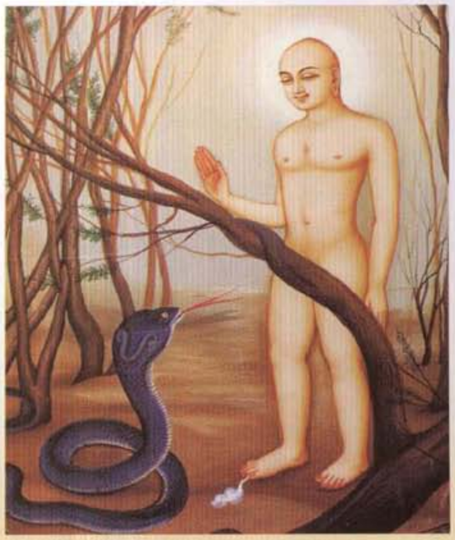

यह सर्प पूर्व भव में एक तपस्वी मुनि था, मास क्षमण के पारणे भिक्षा के लिये जा रहा था, उस समय उसके पैर के नीचे एक मेंढ़की आ गई, पीछे चलते हुए उसके शिष्य ने उसे मरी हुई देखी-यह नहीं कहा जा सकता कि पहले किसी के पैर से मरी हुई थी या मुनि के पैर से मरी। आहार की आलोचना के समय, प्रतिक्रमण के समय और राइ संथारा के वक्त शिष्य ने गुरु महाराज को मेंढ़की विराधना का मिच्छामि दुकडमं देने की प्रार्थना की, दो बार तो सुनी अनसुनी की, तीसरी बार रात को क्रोधाकान्त होकर शिष्य को मारने दौड़ा बीच में स्तंभों से सिर फूट गया उसकी वेदना से मर कर नरक में गया, वहां से निकल कर तापस हुआ, वहां भी अपने वन में आये हुए राजकुमारों को त्रास पहुंचाता, एक दिन कुल्हाड़ा लेकर उनके पीछे दौड़ा, पैर रपट जाने से फरसी का प्रहार लगा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्तध्यान से मरकर चण्डकौशिक सर्प हुआ।

अपने नजदीक प्रभु को ध्यान में देखकर सर्प क्रोधातुर हुआ, प्रभु का विनाश करने के लिए सूर्य के सामने दृष्टि कर उन पर फैंकी, तथापि भगवान वैसी ही स्थिति में खडे रहे, इससे अत्यंत गुस्सा होकर भगवन्त को काटा, दूध के समान लोही निकलने लगा भगवन्त ने फरमाया - बुज्झ बुज्झ चण्डकोशिक! चेत-चेत! चण्डकौशिक! ये वचन सुनकर सर्प को जातिस्मरण ज्ञान हुआ, अपना पूर्व भव जाना तब परमात्मा को तीन प्रदक्षिणा कर बोला-अहो! करुणा समुद्र भगवन ने मुझे दुर्गति से उद्धत किया, इत्यादि चिन्तन कर वैराग्य वश अनशन कर एक पक्ष तक बिल में मुख रखकर शान्त पड़ा रहा, तब घी बेचने वाले उस पर घी चढ़ा जाते उसकी गंध से असंख्य चींटियां आकर उसका शरीर खाने लगी, अत्यंत पीड़ा सहन करता हुआ प्रभु दृष्टिरूप सुधा वृष्टि से भींजा हुआ समता भाव से मरकर आठवें देवलोक को प्राप्त हुआ-यह तीर्थंकर देव का प्रभाव है।

पूर्वजन्म के वैरी नागकुमार देव का नौका द्वारा जलोपसर्ग

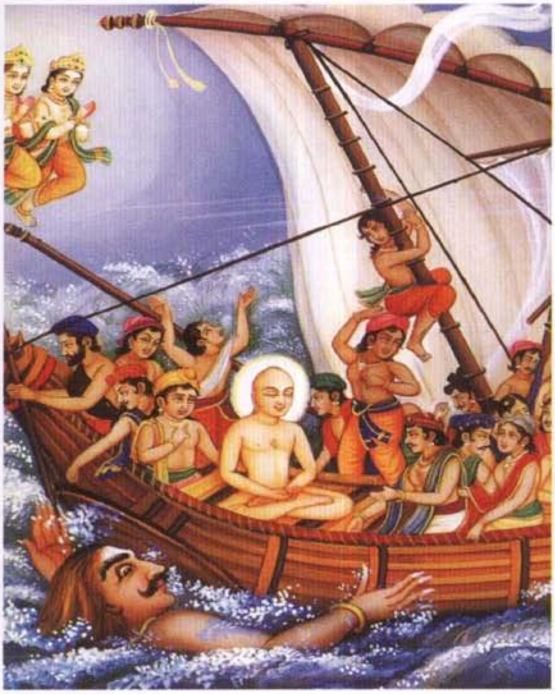

सुरभीपुर में राजगृह जाते समय मार्ग में आई हुई गंगा नदी को पार करने के लिए भगवान नाव में बैठे, उसी नाव में दूसरे भी कई लोग बैठे। नाविक ने नाव खेना आरंभ किया। जब वह ठीक गहरे जल के पास पहुंची, तब अचानक पातालवासी सुदंष्ट् नामक नागकुमार देव ने ज्ञान से जाना कि अहो! जब ये महावीर त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में थे और मैं सिंह के भव में था, तब इन्होंने मुंह से चीरकर मुझे जान से मार दिया था। इस से उसकी वैरवृत्ति जाग उठी। वह प्रतिशोध लेने के लिये दौड़ आया और अपनी दिव्य शक्ति से भयंकर तूफान उपस्थिति कर दिया। शुरू में उसने भयंकर वायु को फैलाया, जिससे गंगा के पानी में उभार आया। नाव इधर-उधर डगमगाती हुई उछलने लगी। मस्तूल टूट गया। सभी को अपने सिर पर नाचती हुई मौत दिखाई दी। घबराहट बढ़ गई, हाहाकार मच गया। बचने के लिये सभी इष्ट देव का स्मरण करने लगे। ऐसे अवसर पर भगवान तो निश्चल भाव से ध्यान में ही पूर्ण मग्न थे। इस उत्पात की जानकारी कम्बल-शम्बल नामक नागदेवों को ज्ञान द्वारा होने पर वे तत्काल आये और उन्होंने सुदंष्ट् को भगा दिया। तूफान शान्त हो गया और नाव सकुशल किनारे पर आ पहुंची। ''इस महान् आत्मा के पुण्य प्रभाव से ही हम सब की रक्षा हुई है।'' ऐसा मानकर सभी प्रवासियों ने भगवान को भावपूर्ण वंदना की और हार्दिक आभार माना।

ध्यान से चलित करने के लिए संगमदेव द्वारा किये हुए दारूण बीस उपसर्ग

एक बार देवराज इन्द्र ने देवी-देवताओं को संबोधित कर कहा - हे देवों! श्रमण भगवान महावीर तीन लोक में महावीर हैं। प्रभु महावीर को कोई भी देव अथवा दानव ध्यान से किंञ्चित् भी विचलित नहीं कर सकता। उस सौधर्म कल्प सभा में संगम नाम का एक सामानिक देवता था। वह अभव्य था। उसने कहा - ''देवराज इन्द्र रागवश ऐसा कथन कर रहे हैं। ऐसा कौन मनुष्य है जिसे देवता विचलित न कर सके। मैं उसे आज ही विचलित कर दूं।'' इन्द्र ने सोचा- मैं अगर रोकूंगा तो उसका अर्थ होगा, प्रभु महावीर दूसरों के सहारे तपस्या कर रहे हैं। इन्द्र मौन रहा। संगम भगवान महावीर के पास आया।

संगम ने उसी रात्रि में प्रभु महावीर को बीस मारणांतिक उपसर्ग दिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे ये हैं -

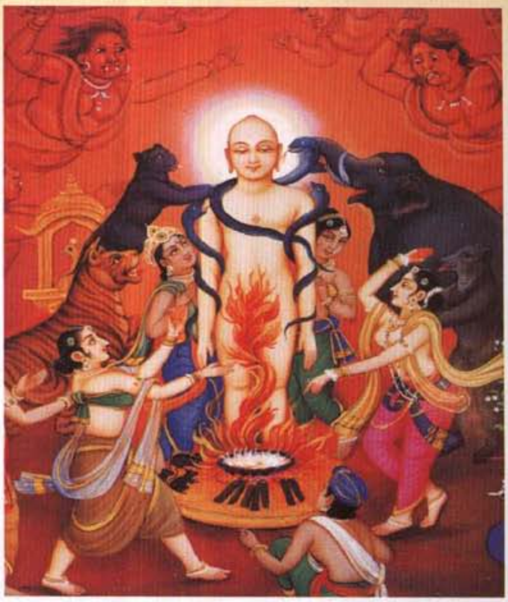

1. धूलवृष्टि की

2-3. वज्रमुखी चींटियों और डांसों से शरीर चूंटा

4. घीमेलिका ने शरीर खाया

5. बिच्छुओं ने डंक मारे

6. सर्पों ने डसे

7. नोलियों ने नखों से शरीर चूंटा

8. चूहों ने काटा

9-10. हाथी-हथनियों ने आकाश में उछाले और पैरों से मर्दन किया।

11. पिशाच रूप से डराये

12. व्याघ्रों ने फाल मार कर भयभीत किया।

13. माता के रूप में आकर कहा-पुत्र! क्यों दुःखी होता है, मेरे साथ चल तुझे सुखी करूंगी।

14. कानों पर पक्षियों के तीखे चुभते हुए पींजरे बांधें।

15. जंगली चाण्डाल ने आकर दृष्ट वचनों से तिरस्कार किया।

16. दोनों पैरों पर अग्नि जलाकर हण्डी में खीर पकाई।

17. अत्यंत कठोर पवन चलाया।

18. ऊंचे वायु से शरीर को उठा उठाकर नीचे पटका और गोल वायु से शरीर को चक्र जैसा घुमाया।

19. एक हजार भार प्रमाण लोहे का गोला भगवान के मस्तक पर पटका, इससे प्रभु कमर तक जमीन में उतर गये, तीर्थंकर का शरीर होने से कुछ भी नहीं बिगड़ा, दूसरे का होता तो शरीर चूर-चूर हो जाता।

20. रात्रि होने पर किसी ने आकर कहा-हे आर्य! प्रभात हो गया है, विहार करो, अब तक क्यों ठहरे हो? भगवान ने अपने ज्ञान से रात्रि है ऐसा जान कर इसको चरित्र माना और कुछ भी उत्तर नहीं दिया - फिर देव ने अपनी ऋद्धि दिखा कर कहा-हे आर्य! वर मांगों, तुमको स्वर्ग चाहिये तो स्वर्ग दूं और देवांगना चाहिये तो देवांगना दूं, जो चाहिये सो मांग लो-इन बीस उपसर्गों से भगवान तनिक भी चलायमान न हुए।

तत्पश्चात् सारे गांव में आहार अशुद्ध कर दिया, चोर का कलंक दिया, कुशिष्य बनकर घर-घर भगवान के छिद्र देखता और लोगों के पूछने पर कहता - मेरे गुरु रात को चोरी करने आवेंगे, इसलिए में तलाश करता फिरता हूं, यह सुन लोग भगवान को मारकूट करते, तब भगवन्त ने यह अभिग्रह धारण किया कि जब तक उपसर्ग शमन न हो तब तक मैं आहार ग्रहण न करूंगा, इस तरह दुष्ट-धृष्ट निर्लज्ज संगम ने पैशाचिक वृत्ति से छः मास तक जगत के तारणहार को उपसर्ग दिये।

संगम ने अवधिज्ञान से देखा कि महावीर के परिणाम कुछ भग्न हुए हैं या नहीं? महावीर के परिणाम उतने ही विशुद्ध थे, जितने छह मास पूर्व। वे छह जीवनिकाय के सभी जीवों का हित चिंतन कर रहे हैं। यह देख संगम प्रभु महावीर के चरणों में गिरा और बोला-भगवन! इन्द्र ने जो कहा, वह सत्य है। मैं भग्नप्रतिज्ञ हूं। आप यर्थाथ प्रतिज्ञ हैं। मैंने जो कुछ किया, उस सबके लिए क्षमायाचना करता हूं। भंते! मैं अब उपसर्ग नहीं करूंगा।

इंद्र को इस बात का बड़ा दुःख था, मगर संगम को इसलिये नहीं रोका कि वह यह सिर जोरी करेगा कि मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्धमान को डिगा सकता था, मगर आपने रोक दिया-छः मास तक इन्द्र, देव और देवांगनाएं सब शोक मग्न रहे - छः मास बाद वह पापात्मा संगम खिन्न होकर स्वर्ग में चला गया, इन्द्र महाराज ने देवांगना सहित उसको वहां से निकाल दिया, वह मेरुचूला पर जाकर रहने लगा।

अभिग्रह-समाप्ति में चन्दनबाला द्वारा उड़द के बाकले का दान और दानप्रभाव

प्रभु ने एक बार 13 बोलों का विकट अभिग्रह किया, जो इस प्रकार था - अविवाहिता राज कन्या हो जो निरपराध एवं सदाचारिणी हो-तथापि वह बन्दिनी हो, उसके हाथों में हथकड़ियां व पैरों में बेड़ियां हो- वह मुण्डित शीष हो-वह 3 दिनों से भूखी हो-वह खाने के लिए सूप में उबले हुए बाकुले लिए हुए हो-वह प्रतीक्षा में हो, किसी अतिथि की-वह न घर में हो, न बाहर-वह प्रसन्न वदना हो-किन्तु उसके आंखों में आंसू बहते हों।

यदि ऐसी अवस्था में वह नृप कन्या अपने भोजन में से मुझे भिक्षा दे, तो मैं आहार करूंगा अन्यथा 6 माह तक निराहार ही रहूंगा - यह अभिग्रह करके भगवान यथाक्रम विचरण करते रहे और श्रद्धालुजन नाना खाद्य पदार्थों की भेंट सहित उपस्थित होते, किन्तु वे उन्हें अभिग्रह के अनुकूल न पाकर अस्वीकार करके आगे बढ़ जाते थे। इस प्रकार 5 माह 25 दिन का समय निराहार ही बीत गया। उसी समय वहां ऐसा हुआ कि चम्पापति राजा दधिवाहन की पुत्री चन्दनबाला को पापोदयवश बिकने का प्रसंग आया। धनावह ने उसे खरीदा। उसकी अनुपस्थिति में सेठ की पत्नी मूला ने ईर्ष्यावश उसका सिर मुंडवाकर तथा पैर में बेड़ियां डालकर उसे तलघर (भूमिगृह) में डाल दिया। तीन दिन बाद सेठ को पता लगने पर उसे बाहर निकाला और सूप के कोने में उड़द के बाकले खाने को दिये। वह दान देने के लिये किसी जैन निर्ग्रन्थ-मुनि की प्रतीक्षा कर रही थी, इतने में स्वयं करपात्री भगवान पधारे। स्वीकृत अभिग्रह पूर्ति में केवल आंसुओं की कमी देखी, अतः वे वापस जाने लगे, यह देखकर चन्दना जोर से रो पड़ी। भगवान रुदन सुनकर लौट आये और दोनों कर पसारकर चन्दन बाला (चंदना) से भिक्षा ग्रहण कर भगवान ने आहार किया। उस समय दानप्रभाव से देवकृत पांच दिव्य प्रकट हुए। और साढा बारह करोड़ सोनैयों की वर्षा की, चंदना के सिर पर नूतन वेणी रचदी और पैरों में सांकल की जगह झांझर बन गये।

ग्वाले का तीक्ष्ण काष्ठसलाका द्वारा अति दारूण कर्णोपसर्ग तथा उसका निवारण

जब भगवान ने अपनी साधना के 12 वर्ष व्यतीत कर लिये तो उन्हें अन्तिम और अति दारुण उपसर्ग उत्पन्न हुआ था। वे विहार करते हुए छम्माणीग्राम में पहुंचे थे। वहां ग्राम के बाहर ही एक स्थान पर वे ध्यानमग्न होकर खड़े थे।

वासुदेव के भव में शय्यापालक के कान में शीशा डलवाया था, वह मरकर ग्वाला हुआ। वह ग्वाला आया और वहां अपने बैलों को छोड़ गया। जब वह लौटा तो बैल वहां नहीं थे। भगवान को बैलों के वहां होने और न होने की किसी भी स्थिति का भान नहीं था। ध्यानस्थ भगवान से ग्वाले ने बैलों के विषय में प्रश्न किये, किन्तु भगवान ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे तो ध्यानालीन थे। क्रोधान्ध होकर ग्वाला कहने लगा कि इस साधु को कुछ सुनाई नहीं देता, इसके कान व्यर्थ है। इसके इन व्यर्थ के कर्णरंध्रों को मैं आज बंद ही कर देता हूं। और भगवान के दोनों कानों में उसने काष्ट शलाकाएं ठूंस दी। कितनी घोर यातना थी? कैसा दारुण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

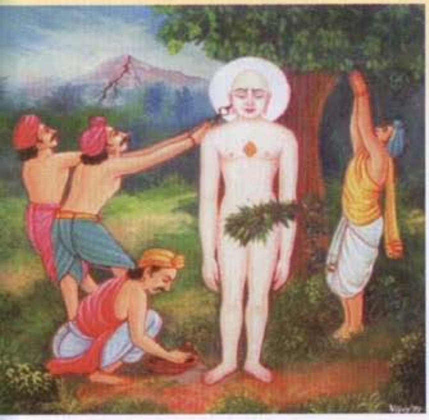

कष्ट भगवान को हुआ होगा, किन्तु वे सर्वथा धीर बने रहे। उनका ध्यान तनिक भी नहीं डोला। ध्यान की सम्पूर्ति पर भगवान मध्यमा नगरी में भिक्षा हेतु जब सिद्धार्थ वणिक के यहां पहुंचे तो वणिक के वैद्य खरक ने इन शलाकाओं को देखकर भगवान द्वारा अनुभूत कष्ट का अनुमान किया और सेवाभाव से प्रेरित होकर उसने कानों से शलाकाओं को बाहर निकाला। उस समय भयंकर वेदना के कारण भगवान के मुख से एक भीषण चीख निकल पड़ी। गत जन्म में भगवान की आत्मा ने अज्ञान से बांधा हुआ पापकर्म अन्तिम भव में उदय आया। कर्म किसी को छोड़ता नहीं, और तदाकार बने हुए कर्मों का भोग करना ही पड़ता है। इसीलिए पाप कर्म बांधने के समय जागृत रहना नितान्त जरूरी है।

साढे 12 वर्ष की साधना-अवधि में भगवान को होने वाला यह सबसे बड़ा उपसर्ग था। इसमें इन्हें अत्यधिक यातना भी सहनी पड़ी। संयोग की ही बात है कि उपसर्गों का आरंभ और समाप्ति दोनों ही ग्वाले के बैलों से संबंध रखने वाले प्रसंगों से हुई।

आहार तथा निद्रा विजय :-

श्रमण भगवान महावीर दीर्घ तपस्वी थे। पूरे साधनाकाल में सिर्फ 350 दिन भोजन किया और निरन्तर कभी भोजन नहीं किया। उनकी कोई भी तपस्या दो उपवास से कम नहीं थी और उत्कृष्ट में उन्होंने निरन्तर छह मास तक का उपवास भी किया। उनकी तपश्चर्या सर्वथा निर्जल तथा ध्यान योग के साथ चलती थी। कल्पसूत्र तथा आचारांग के अनुसार तप की तालिका इस प्रकार है।

तप का नाम	तप की संख्या	एक-एक तप के कुल दिन	तप का नाम	तप की संख्या	एक-एक तप के कुल दिन
छह मासिक तप	1	180 दिन का एक तप	मासिक तप	12	30 दिन का एक तप
5 दिन कम छह मासिक तप	2	175 दिन का एक तप	पाक्षिक तप	72	15 दिन का एक तप
चातुर्मासिक तप	9	120 दिन का एक तप	भ्रद्प्रतिमा	12	2 दिन का एक तप
तीन मासिक तप	2	90 दिन का एक तप	महाभद्र प्रतिमा	1	4 दिन का एक तप
सार्धद्विमासिक तप	2	75 दिन का एक तप	सर्वतोभद्र प्रतिमा	1	10 दिन का एक तप
द्विमासिक तप	6	60 दिन का एक तप	सोलह दिन का तप	1	16 दिन का एक तप
सार्धमासिक तप	2	45 दिन का एक तप	अष्टम भक्त तप	12	3 दिन का एक तप
			षष्ठ भक्त तप	229	2 दिन का एक तप

इस प्रकार 11 वर्ष 6 महिने और 25 दिन तपस्या के तथा पहले पारणे सहित सर्व **350** पारणे हुए। कुल 12 वर्ष 6 महिने 15 दिन भगवान छद्‌मस्थ अवस्था में रहे, इतने काल में मात्र एक मुहूर्त प्रमाद आया अर्थात् मात्र **48 मिनट** नींद ली।

शुक्लध्यान निमग्न भगवान को केवलज्ञान-त्रिकालज्ञान की प्राप्ति

वैशाख शुक्ला दशमी के शुभ दिन श्रमण भगवान महावीर के साधनाकाल के 12 वर्ष 5 माह 15 दिन व्यतीत हो चुके थे। प्रभु महावीर विहार करते हुए जंभियग्राम नगर के बाहर ऋजु बालिका नदी के तट पर एक उद्यान में शाल वृक्ष के नीचे गोदूहिका या उकडु आसन में ध्यानावस्थित हुए। तब प्रभु के चार घनघाति कर्म (ज्ञानावर्णीय,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनावर्णीय, मोहनीय और अंतराय कर्म) का संपूर्ण क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त किया। संपूर्ण लोकालोक-दृश्यादृश्य विश्व के तीनों काल के मूर्तामूर्त, सूक्ष्म या स्थूल, गुप्त या प्रकट ऐसे समस्त जड़-चेतन पदार्थ और उनके पर्यायों (अवस्थाओं) के प्रत्यक्ष ज्ञाता और द्रष्टा बने। इतना ही नहीं वे अठारह दोष रहित सर्वगुणसम्पन्न अरिहन्त होकर तीनों लोक के पूजनीय बने। उनका साधना काल समाप्त हो गया।

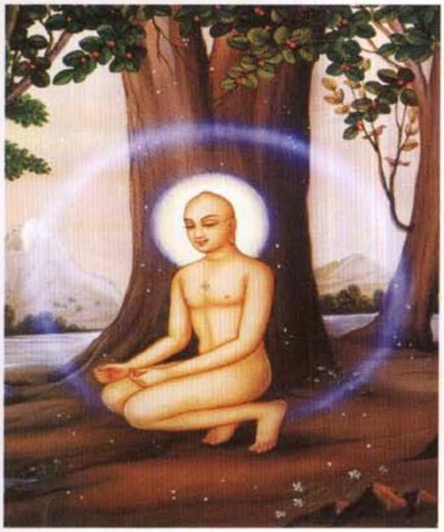

केवली बनते ही चौसठ इन्द्रों व अनगिनत देवी-देवताओं ने भगवान का केवलज्ञान महोत्सव मनाया। देवों ने समवसरण की रचना की। इस समवसरण में केवल देवी-देवता थे। उन्होंने प्रवचन को सुना, सराहना की पर महाव्रत एवं अणुव्रत की दीक्षा नहीं ले सके, क्योंकि देवता सत्य, संयम, शील के उपासक तो हो सकते है, परंतु नियम ग्रहण कर उसकी साधना नहीं कर पाते। संयम की पात्रता केवल मनुष्य में ही है। इस दृष्टि से यह माना जाता है कि कोई भी मनुष्य व्रत ग्रहण का संकल्प नहीं कर सका, इस कारण प्रभु की प्रथम देशना निष्फल रही।

समवसरण में 11 ब्राह्मण विद्वानों को प्रवज्या, गणधर पद प्रदान, शास्त्रों का सृजन और श्री संघ की स्थापना

भगवान महावीर जंभियग्राम से विहार कर मध्यम पावा पधारे। पावा का प्रांगण उत्साह से भर गया। इस हलचल को देखकर कुछ लोगों ने सोचा, भगवान के आवागमन पर यह सब कुछ हो रहा है तो कुछ लोगों ने सोचा महाविद्वान सोमिल विप्र द्वारा आयोजित यज्ञ के कारण हो रहा है। उस यज्ञ की आयोजना में अनेक पंडित विद्यमान थे। जिनमें इन्द्रभूति, अग्निभूति आदि प्रख्यात ग्यारह धुरंधर विद्वान भी विद्यमान थे।

भगवान महावीर के आगमन पर पावा में देवों ने समवसरण की रचना की। शहर के नर-नारियां झुंड के झुंड वहां पहुंचने लगे। गगनमार्ग से देव-देवियों के समूह भी आने लगे। उन्हें देखकर पंडित बहुत खुश हुए कि ये देव और देवियां हमारे यज्ञ में आहुति लेने आ रहे हैं किन्तु कुछ ही क्षणों में वे यज्ञ मंडप से आगे निकल गये। जानकारी करने पर ज्ञात हुआ कि वे भगवान महावीर के समवसरण में जा रहे हैं। उन्होंने सोचा ये कोई पाखंडी, मायावी है। हमें चलकर इनका भंडाफोड करना चाहिए। सबसे पहले इन्द्रभूति गौतम अपनी शिष्य मंडली के साथ समवसरण की दिशा में भगवान महावीर को पराजित करने हेतु रवाना हुए। इन्द्रभूति के लौटने में विलंब होने के कारण अग्निभूति आदि अन्य साथी भी क्रमशः वहां पहुंच गये और भगवान महावीर के मुख से अपनी शंकाओं का समाधान पाकर नतमस्तक हो गये। उनका अहं विगलित हो गया और उन्होंने अपने शिष्यों सहित(4400) भगवान के पास दीक्षा स्वीकार कर ली। इन सब की दीक्षा के साथ ही तीर्थ का प्रवर्तन हुआ इन्द्रभूति गौतम प्रधान शिष्य बने मुख्य ग्यारह मुनियों को त्रिपदी दी। उसके आधार पर प्राकृत भाषा में द्वादशांक शास्त्रों की रचना की। भगवान ने उनको प्रमाणित किया और चतुर्विध संघ की स्थापना की।

गणधर

''गणं धारयति इति गणधरः'' अर्थात जो गण (संघ) का भार धारण करते हैं, वे गणधर कहलाते हैं। तीर्थंकर द्वारा अर्थ रूप में कहे गये प्रवचन को धारण कर उसकी सूत्र रूप में व्याख्या करने वाले गणधर होते हैं। भगवान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर के इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर थे। भगवान महावीर के पास दीक्षित होने से पूर्व उन सबके मन में एक-एक संदेह था। जिसका उल्लेख **आवश्यकनिर्युक्ति** की एक गाथा में मिलता है।

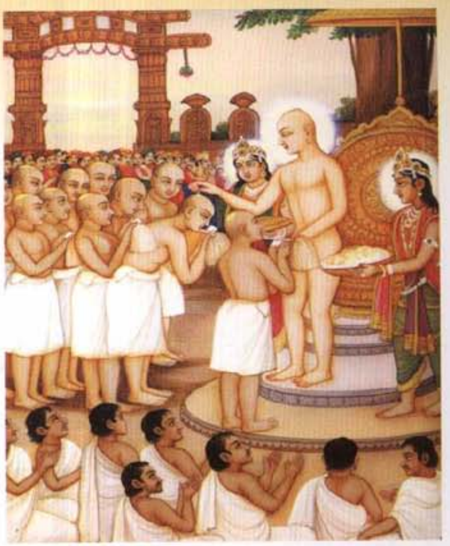

जीवे कम्मे तज्जीव भूय तारिसय बंधमोक्खेय।

देवा णेरइय या पुण्णे परलोय णेव्वाणे।।

इस गाथा में ग्यारह गणधरों के संशयों को क्रमशः इस प्रकार से बताया गया है।

गणधर का नाम	संशय
1. इन्द्रभूति	जीव है या नहीं ?
2. अग्निभूति	कर्म है या नहीं ?
3. वायुभूति	शरीर और जीव एक है या भिन्न ?
4. व्यक्त	पृथ्वी आदि भूत हैं या नहीं ?
5. सुधर्मा	यहां जो जैसा है वह परलोक में भी वैसा होता है या नहीं ?
6. मंडितपुत्र	बंध-मोक्ष है या नहीं ?
7. मौर्यपुत्र	देव है या नहीं ?
8. अकम्पित	नरक है या नहीं ?
9. अचलभ्राता	पुण्य-पाप है या नहीं ?
10. मेतार्य	परलोक है या नहीं ?
11. प्रभास	मोक्ष है या नहीं ?

भगवान को भस्म करने के लिए गौशालक द्वारा तेजोलेश्या का प्रयोग

भगवान श्रावस्ती में विराजमान थे। उसी समय भगवान का स्वच्छन्दी आद्यशिष्य गोशालक अपने आपको 'मैं तीर्थंकर हूं' ऐसा सबको बताता था। गौतमस्वामीजी ने यह बात सुनकर भगवान से कही। भगवान ने प्रतिकार करते हुए कहा कि - ''आजीविक सम्प्रदाय का अगुआ मंखलीपुत्र गोशालक अष्टांग निमित्त का ज्ञान होने से कुछ भविष्य कथन कर सकता है। किंतु वह जिस पद की घोषणा करता है वह सर्वथा मिथ्या है। वह तो एक समय मेरी छद्मस्थ अवस्था में मेरा धर्म शिष्य था।'' यह बात उपस्थित जनता ने सुनी, और वह गोशालक के कान तक पहुंची। वह अतिक्रुद्ध होकर बदला लेने के इरादे से अपने भिक्षुसंघ के साथ भगवान के पास आ पहुंचा। भगवान ने जानबूझकर उससे अपने साधुओं को दूर रहने के लिए कहा, किन्तु दो साधु भक्तिवश नहीं गये। गोशालक दूर खड़ा रहकर भगवान को लक्ष्य कर के चिल्ला कर कहने लगा। ' हे काश्यप! तू मेरी निन्दा करके अवहेलना क्यों करता है ? तेरा वह शिष्य तो मर गया है, मैं तो दूसरा हूं।' भगवान ने कहा - 'अभी तक तेरा सत्य को असत्य कहने का वक्र स्वभाव गया नहीं ?' यह सुनकर और अधिक क्रुद्ध हो वह बोला- हे काश्यप! तूने मुझे छेड़कर एक शूल उत्पन्न कर लिया है। अब

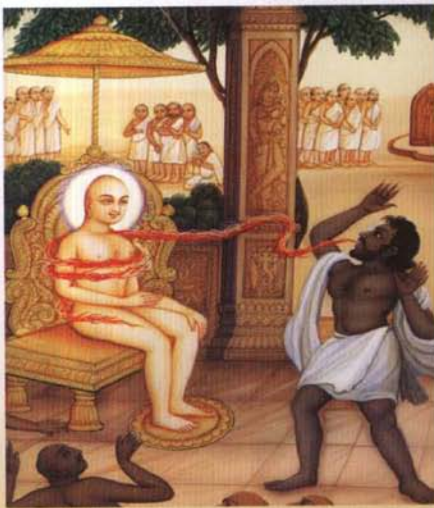

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तू जीवित नहीं रह सकेगा।' उस समय भगवान के दो विनीत शिष्यों द्वारा उसकी भर्त्सना होने पर प्रथम तो उसने उन दोनों को तेजोलेश्या से शीघ्र जला डाला। बाद में उसने भगवान को जलाने के लिये तेजोलेश्या नामक भयंकर जाज्वल्यमान उष्णशक्ति छोड़ी। परंतु तीर्थंकरों पर कोई शक्ति फलीभूत नहीं होती, अतः श्रमण महावीर की प्रदक्षिणा कर चक्कर काटती वापस गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हो उसी को जला दिया।

पावापुरी में भगवान के सोलह प्रहर की अन्तिम देशना और मोक्ष की प्राप्ति

भगवान महावीर ने जीवन के अंतिम 72वें वर्ष में पावापुरी (आपापापुरी) के राजा हस्तिपाल की प्रार्थना स्वीकार कर वहां चातुर्मास किया, वही उनके जीवन का अन्तिम चातुर्मास था। चातुर्मास काल के साढ़े तीन मास लगभग बीत जाने पर भगवान महावीर ने देखा कि अब देह त्यागकर निर्वाण का समय निकट आ गया है। गणधर गौतम स्वामी का महावीर के प्रति अत्यधिक अनुराग था। निर्वाण के समय पर इन्द्रभूति गौतम अत्यधिक रागग्रस्त न हों, इस कारण भगवान महावीर ने कार्तिक अमावस्या के दिन उन्हें अपने से कुछ दूर सोम शर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए भेज दिया।

कार्तिक अमावस्या के दिन भगवान ने छट्ठ भक्त (दो दिन का उपवास) किया। समवसरण में विराजकर 16 प्रहर (48 घंटे) तक परिषद को अपनी अन्तिम देशना दी जो उत्तराध्ययन सूत्र, विपाक सूत्र आदि के रूप में प्रसिद्ध है।

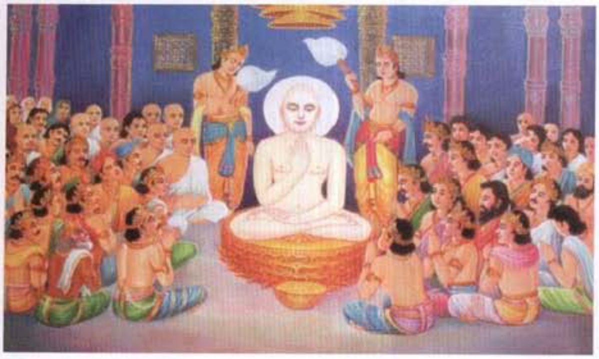

कार्तिक अमावस्या की मध्य रात्रि के पूर्व ही भगवान महावीर ने समस्त कर्मों का क्षय कर देह त्याग कर निर्वाण प्राप्त किया। कुछ क्षणों के लिए समूचे संसार में अंधकार छा गया।

देवताओं ने मणिरत्नों का प्रकाश किया। मनुष्यों ने दीपक जलाकर अंधकार दूर कर भगवान महावीर के अंतिम दर्शन किये। उसी निर्वाण दिवस की स्मृति में दीपावली पर्व भगवान महावीर की निर्वाण ज्योति के रूप में ''ज्योतिपर्व'' की तरह मनाया जाता है।

भगवान महावीर के निर्वाण के समाचार सुनते ही मोहग्रस्त गणधर गौतम स्वामी भाव-विहल हो गये। किन्तु फिर शीघ्र ही वे वीतराग चिन्तन में आरूढ़ हो गए। आत्मोन्नति की श्रेणियां पार कर उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

देवताओं और मनुष्यों ने एक साथ मिलकर भगवान महावीर का निर्वाण उत्सव और गणधर गौतम स्वामी का कैवल्य महोत्सव मनाया।

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके विशाल धर्म संघ का संपूर्ण उत्तरदायित्व पंचम गणधर आर्य सुधर्मास्वामी के कंधों पर आ गया। आर्य सुधर्मास्वामी के निर्वाण के पश्चात् उनके शिष्य आर्य जम्बूस्वामी संघ के नायक आचार्य बने। वि.पू. 406 में आर्य जम्बूस्वामी का निर्वाण हुआ। आर्य जम्बूस्वामी के निर्वाण के साथ ही भरत क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल में केवलज्ञान परम्परा लुप्त हो गई।

ईसा पूर्व 599 (विक्रम पूर्व 542) में भगवान का जन्म हुआ।

ईसा पूर्व 569 (विक्रम पूर्व 512) में भगवान श्रमण बने।

ईसा पूर्व 557 (विक्रम पूर्व 500) में भगवान केवली बने।

ईसा पूर्व 527 (विक्रम पूर्व 470) में भगवान का निर्वाण हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर की शिष्य सम्पदा

साधु	14,000
साध्वी	36,000
श्रावक	1,59,000
श्राविका	3,18,000
अनुत्तर विमान में उत्पन्न	800
केवलज्ञानी साधु	700
केवलज्ञानी साध्वी	1,400
अवधिज्ञानी	1,300
मनःपर्यवज्ञानी	500
वैक्रियलब्धिधर	700
वादी	400
चौदहपूर्वी	300

भगवान महावीर स्वामी का परिवार-परिचय

1. पिता	-	सिद्धार्थ राजा	2. माता	-	त्रिशलादेवी
3. भाई	-	नंदीवर्धन	4. भाभी	-	जयेष्ठा
5. पत्नी	-	यशोदादेवी	6. पुत्री	-	प्रियदर्शना
7. जमाई	-	जमालि	8. बहन	-	सुदर्शना
9. चाचा	-	सुपार्श्व	10. मामा	-	चेटक राजा
11. मामी	-	सुभद्रादेवी	12. सास	-	धारिणी रानी
13. ससुर	-	समरवीर	14. नगरी	-	वैशाली
15. गांव	-	क्षत्रिय कुंड	16. जन्म	-	चैत्र सुदी 13
17. जाति	-	क्षत्रिय	18. नाम	-	वर्धमान कुमार
19. गोत्र	-	काश्यपगोत्रीय	20. च्यवन	-	आषाढ़ शुक्ला 6
21. दीक्षा	-	मार्गशीर्ष कृष्णा 10	22. केवलज्ञान	-	वैशाख सुदी 30
23. निर्वाण	-	कार्तिक वदि 30			

तीर्थंकरों के पंच कल्याणक

तीर्थंकर की आत्मा संसार में परम विशिष्ट लोकोत्तम आत्मा होती है। उनका जन्म केवल स्वयं के कल्याण हेतु नहीं, किंतु सम्पूर्ण विश्व के कल्याण का कारण होता है, इसलिए तीर्थंकर देव का जन्म 'जन्म कल्याणक' कहलाता है। इसी प्रकार उनका गृह-त्याग कर प्रव्रजित होना, केवलज्ञान प्राप्त करना और संसार से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करना भी 'कल्याणक' (कल्याणकारी) कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन सूत्रों में सभी तीर्थंकरों के पंच कल्याणक का उल्लेख मिलता है :-

1. च्यवन कल्याणक - मनुष्य जन्म धारण करने हेतु स्वर्ग (आदि) से आत्मा का प्रस्थान 'च्यवन कल्याणक' कहलाता है। इसी समय उनकी माता चौदह शुभ स्वप्न देखती है। त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ-प्रत्यारोपण की घटना का संबंध सिर्फ भगवान महावीर के जीवन से ही है।

2. जन्म कल्याणक - माता के गर्भ से जन्म ग्रहण करना। जन्म के समय छप्पन दिशाकुमारियां आकर सूतिका कर्म करती हैं। सौधर्मेन्द्र अपनी देह के पांच रूप बनाकर तीर्थंकर शिशु को मेरु पर्वत पर ले जाकर उनका जन्म अभिषेक जन्मोत्सव मनाते हैं।

3. दीक्षा कल्याणक - तीर्थंकर जब गृह त्याग कर दीक्षा ग्रहण करते हैं तब देव मनुष्य सभी उत्सव के रूप में उनकी विशाल शोभायात्रा निकालते हैं। और फिर तीर्थंकर भगवान सर्व आभूषण आदि सांसारिक वस्तुओं का परित्याग कर स्वयं के हाथ से अपने केशों का लुंचन (पंचमुष्टि लोच) करते हैं।

4. केवलज्ञान कल्याणक - तप-ध्यान संयम की उत्कृष्ट साधना द्वारा चार घाति कर्म का क्षय करके लोकालोक प्रकाशी निराबाध केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति होने पर देव, देवेन्द्र, मानव, पशु, पक्षी आदि सभी भगवान के दर्शन करने आते हैं। समवसरण की रचना कर भगवान का केवल महोत्सव मनाया जाता है।

5. निर्वाण कल्याणक - समस्त कर्मों का नाश कर तीर्थंकर देव देह-मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं। तब वह देह विसर्जन 'निर्वाण कल्याणक' के रूप में मनाया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* जैन तत्त्व मीमांसा *

* तत्त्व की परिभाषा
* नव तत्त्व का बोध
* जीव तत्त्व
* जीव के भेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्व मीमांसा

अनादि अनंत काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव को यथार्थ स्वरुप की प्रतीतिपूर्वक का यथार्थज्ञान करानेवाला यदि कोई है तो वह सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन कहो, यथार्थदर्शन कहो, आत्मदर्शन कहो, मोक्षमार्ग का दर्शन कहो तत्वप्रति कहो - ये सब एक ही वस्तु का बोध कराने वाले शब्द है।

जब तक जीव सम्यग्दर्शन को नहीं प्राप्त करता तब तक उसका संसार परिभ्रमण अविरत चालू ही रहता है। उसकी दिशा, उसका पुरुषार्थ, उसका ज्ञान, उसका आचार और उसका विचार ये सब भ्रान्त होते हैं। उसका धर्म भी अधर्म बनता है और संयम भी असंयम बनता है। संक्षेप में कहे तो उसकी सब शुभ करणी भी अशुभ में ही बदलती है, क्योंकि उसका दर्शन ही मिथ्या है।

यदि मोक्ष को प्राप्त करना हो, कर्म से मुक्त होना हो, अनादि काल की विकृतियों का विनाश करना हो, सब धर्म को धर्म का वास्तविक स्वरुप देना हो और आचरित धर्म को सार्थक बनाना हो, तो सम्यग्दर्शन का प्रकटीकरण अत्यंत आवश्यक और अनिवार्य हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में कहा गया है कि ''तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'' - अर्थात् तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है और तत्त्वों की सही-सही जानकारी होना सम्यग्ज्ञान है। तो सहज ही जिज्ञासा होती है कि तत्त्व क्या है? और वे कितने हैं ? तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान और उस पर यथार्थ प्रतीति (विश्वास - श्रद्धा) होने पर ही आध्यात्मिक विकास का द्वार खुलता है। अर्थात् मोक्ष मंजिल की ओर आत्मा का पहला कदम बढ़ता है। अतएव आत्मा के अभ्युत्थान के लिए तत्त्व का ज्ञान करना परम आवश्यक है। जीव को मोक्षमार्ग पर चलने के लिए प्रकाश की आवश्यकता रहती है। तत्त्वज्ञान का प्रकाश यदि उसके साथ है तो वह इधर-उधर भटक नहीं सकता और मोक्ष के राजमार्ग पर आसानी से कदम बढाता चलता है। यदि जीव के साथ तत्त्वज्ञान का आलोक नहीं है तो अन्धकार में भटक जाने की सभी संभावनाएँ रहती है। अतएव प्रत्येक आत्मा को तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए ताकि वह अपना साध्य निश्चित करके उसे प्राप्त करने के उपायों का अवलम्बन लेता हुआ अपनी मंजिल की ओर आसानी से चलता रहे।

भारतीय साहित्य में तत्त्व के संबंध में गहराई से खोज की गयी है। तत् शब्द से तत्त्व शब्द बना है। किसी भी व्यक्ति के साथ बातचीत करते हुए, जब हम जल्दी में उसका भाव जानना चाहते हैं तो बातचीत को तोड़ते हुए कह देते हैं -

1. आखिर तत्त्व क्या है ? तत्त्व की बात बताइये अर्थात् बात का सार क्या है ? सार, भाव, मतलब या रहस्य को पाने के लिए हम बहुधा अपने व्यवहार में तत्त्व शब्द का प्रयोग करते हैं।

2. दैनिक लोकव्यवहार में राजनीति में धर्म और साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में तत्त्व शब्द सार या रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। चिंतन मनन का प्रारंभ तत्त्व से ही होता हैं 'किं तत्त्वम्' - तत्त्व क्या हैं ? यही जिज्ञासा तत्त्व दर्शन का मूल है। जीवन में तत्त्वों का महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन में से तत्त्व को अलग करने का अर्थ है आत्मा के अस्तित्व को इन्कार करना।

तत्त्व की परिभाषाः

तत् शब्द से 'तत्त्व' शब्द बना है। संस्कृत भाषा में तत् शब्द सर्वनाम हैं। सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते है। तत् शब्द से भाव अर्थ में ''त्व'' प्रत्यय लगकर तत्त्व शब्द बना हैं, जिसका अर्थ होता है उसका भाव ''तस्य भावः तत्त्वम्'' अतः वस्तु के स्वरूप को और स्वरूप भूत वस्तु को तत्त्व कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन में विभिन्न स्थलों पर और विभिन्न प्रसंगों पर सत्, सत्त्व, तत्त्व, तत्त्वार्थ, अर्थ, पदार्थ और द्रव्य इन शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। जैन तत्त्वज्ञों ने तत्त्व की विशुद्ध व्याख्या करते हुए कहा है कि तत्त्व का लक्षण सत् है और यह सत् स्वतः सिद्ध है। **तत्त्वार्थ सूत्र** 5/30 में कहा गया है - **"उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्"** - अर्थात् जो उत्पाद (उत्पन्न होना), व्यय (नष्ट होना) और ध्रौव्य (हमेशा वैसा ही रहना) इन तीनों से युक्त है वह सत् है। क्योंकि नवीन अवस्थाओं की उत्पत्ति और पुरानी अवस्थाओं का विनाश होते रहने पर भी वह अपने स्वभाव का कभी त्याग नहीं करता है। जैसे सुवर्ण के हार, मुकुट, कुण्डल, अंगूठी इत्यादि अनेक रुप बनते हैं तथापि वह सुवर्ण ही रहता है, केवल नाम और रुप में अंतर पड़ता है। वैसे चारों ही गतियों व चौरासी लाख जीवयोनियों में परिभ्रमण करते हुए जीव की पर्यायें (Modes) परिवर्तित होती रहती है । गति की अपेक्षा नाम और रुप बदलते रहते है, किंतु जीव द्रव्य हमेशा बना रहता है।

तत्त्व कितने हैं ?

तत्त्व कितने है इस प्रश्न का उत्तर अलग-अलग ग्रंथों में अलग-अलग दिया है। संक्षिप्त और विस्तार की दृष्टि से प्रतिपादन की तीन मत प्रणालियाँ है।

- पहली प्रणाली के अनुसार तत्त्व दो हैं 1. जीव 2. अजीव

- दूसरी प्रणाली के अनुसार तत्त्वों की संख्या सात है 1. जीव 2. अजीव 3. आश्रव 4. बंध 5. संवर 6. निर्जरा 7. मोक्ष

- तीसरी प्रणाली के अनुसार तत्त्वों की संख्या नौ हैं 1. जीव 2. अजीव 3. पुण्य 4. पाप 5. आश्रव 6. बंध 7. संवर 8. निर्जरा 9. मोक्ष

दार्शनिक ग्रंथों में पहली और दूसरी मत प्रणाली मिलती है। आगम साहित्य में तीसरी मत प्रणाली उपलब्ध है।

1. आगम साहित्य में उत्तराध्ययन सूत्र, स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, आचार्य हरिभद्रसूरी का षड्दर्शनसमुच्चय आचार्य कुंदकुंद का समयसार तथा पंचास्तिकाय में भी नौ तत्त्वों का उल्लेख है।

2. द्रव्यसंग्रह में तत्त्वों के दो भेद बताये गये हैं।

3. आचार्य श्री उमास्वाति ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के प्रथम अध्याय के चौथे सूत्र में सात तत्त्वों का उल्लेख किया है - जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। पुण्य और पाप इन का आस्रव या बंध तत्त्व में समावेश कर तत्त्वों की संख्या सात मानी गई है।

नव तत्त्व का संक्षेपः

जीव और अजीव ये दो प्रधान तत्त्व है, शेष सातों तत्त्वों का समावेश इन दो तत्त्वों में हो जाता है।

1.	जीव	जीव, संवर, निर्जरा मोक्ष
2.	अजीव	अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बंध

संवर और निर्जरा जीव के ही शुभ-अध्यवसाय रुप होने से वे जीव-स्वरुप है और पुण्य तथा पाप कर्म-स्वरुप होने से वे अजीव (जड़) है।

आध्यात्म की दृष्टि से वर्गीकरणः

आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्व तीन प्रकार के हैं - ज्ञेय, हेय और उपादेय। जो जानने योग्य है वह है **ज्ञेय** (ज्ञांतु योग्यं ज्ञेयम्), जो छोड़ने योग्य है वह **हेय** (हातुं योग्यं हेयम्) और जो ग्रहण करने योग्य है वह **उपादेय** (उपादातुं योग्यं उपादेयम्)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम	व्याख्या	तत्त्व
ज्ञेय	जानने योग्य	जीव, अजीव
हेय	छोड़ने योग्य	पाप, आश्रव, बंध
उपादेय	ग्रहण करने योग्य	पुण्य, संवर, निर्जरा, मोक्ष

ऐसे तो सभी तत्त्व जानने योग्य हैं, परंतु जीव और अजीव यह दो तत्त्व सिर्फ जाने जा सकते हैं लेकिन इनका त्याग अथवा ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसलिए ये दोनो तत्त्व ज्ञेय माने गये हैं। सात तत्त्वों की जानकारी प्राप्त कर, हेय का त्याग करना चाहिए तथा उपादेय तत्त्वों को जीवन में अपनाना चाहिए।

रूपी और अरूपी:

रुपी वह है जिसमें वर्ण, गंध रस और स्पर्श हो। जिसमें इनका अभाव हो, वह अरुपी है। नव तत्त्वों में जीव अरुपी है। यहाँ जीव का अभिप्राय आत्मा से है, शरीर से नहीं। मोक्ष भी अरुपी है। अजीव के पांच भेद है, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। धर्म, अधर्म, आकाश, और काल ये चारों अरुपी है और एक मात्र पुद्गल रुपी है। आश्रव, बन्ध, पुण्य, पाप भी रुपी हैं। संवर, निर्जरा, मोक्ष ये जीव के ही शुभ-शुद्ध अवस्था स्वरूप होने से वह अरूपी हैं।

नोट : रूपी को मूर्त और अरूपी को अमूर्त भी कहा जाता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नव तत्त्व बोध : सागर और नाव का दृष्टान्त

ज्ञेय : जीव अजीव ज्ञेय हैं। सभी जीवों के प्रति दयाभाव रखना, रक्षा करना, अजीव के प्रति उदासीन बने रहना।

हेय : पाप आस्रव और बंध तत्त्व हेय है । ये अनंत दुःखदायी-त्यागने योग्य होने से उनके प्रति अरुचि भाव पैदा करना और उनका त्याग करना।

उपादेय : पुण्य-संवर-निर्जरा और मोक्ष उपादेय हैं। इन्हें आत्मा को सुख देने वाले समझकर इन क्रियाओं में सतत प्रयत्नशील रहना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नव तत्त्व बोध : सागर और नाव का दृष्टांत

नव तत्त्व को सुगम रीति से समझाने के लिए प्राचीन आचार्यों ने सागर और नाव का दृष्टांत दिया है।

1. जीव (नौका) :- नवतत्त्वों में पहला तत्त्व है जीव। इसका गुण है चेतना/उपयोग। जिस प्रकार समुद्र में नौका की स्थिति होती है। उसी प्रकार संसार-सागर में जीव की स्थिति समझो।

2. अजीव (पानी) :- समुद्र में पानी रहता है, जिसमें नाव चलती है। इस संसार में अजीव तत्त्व रूपी पानी चारों तरफ भरा है। इसमें सशरीरी जीव नौका के समान है। पानी के अभाव में नाव नहीं चल सकती, इसी प्रकार संसार में अजीव तत्त्व के सहयोग के बिना अकेला जीव कुछ नहीं कर सकता। नाव रात-दिन पानी में रहती है। सशरीरी जीव भी संसार में सतत् जड़ (अजीव) पदार्थों के संपर्क में रहता है। उनके बिना वह कुछ नहीं कर सकता।

3. पुण्य (अनुकूल पवन) :- समुद्र में नाव को सुखपूर्वक चलने के लिए अनुकूल पवन की जरुरत रहती है। पवन के रुख के सहारे नाव निर्विघ्नपूर्वक चल सकती हैं। जीव अपने शुभ कर्मरूपी पुण्यों के सहारे संसार में सुखपूर्वक निर्विघ्न जीवन यात्रा चला सकता है।

4. पाप (प्रतिकूल पवन) :- कभी - कभी समुद्र में प्रतिकूल हवा चलती है तो नाव चलाना बहुत कठिन हो जाता है। नाव डगमगाने लगती है। हिचकोले खाती है। कभी - कभी भँवर में भी फंस जाती है। इसी प्रकार पाप के उदय से जीव संसार में कष्ट पूर्वक यात्रा करता है। कभी - कभी तो उसका जीवन भी जोखिम में पड़ जाता है।

5. आस्रव (छिद्र) :- नाव में जब कहीं पर छिद्र हो जाते है, नाव नीचे से टूट-फूट जाती है तो उसके भीतर पानी भरने लगता है। जिस कारण नाव के डूबने का खतरा हो जाता है। पाँच आस्रव रूपी छिद्रों द्वारा जीव रूपी नाव में कर्म रूपी पानी भरने से वह संसार में डूबने लगती है। जीव राग - द्वेष रूपी दोषों का सेवन करता है, वे ही उसके आस्रव द्वार रूपी छिद्र हैं। इन दोष रूपी छिद्रों की जितनी अधिकता होगी, उतना ही कर्मरूपी पानी अधिक आयेगा। उस भार से जीव संसार में गहरा डूबता है।

6. संवर (रोक) :- कुशल नाविक नाव के छिद्रों को शीघ्र ही बंद करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार ज्ञानी सम्यक्त्वी जीव आस्रव रूपी छिद्रों को रोकने के लिए संवर की रोक लगाता है। व्रत, प्रत्याख्यान, त्याग, संयम आदि से छिद्रों पर रोक लगती है तो आता हुआ कर्म रूपी जल रुक जाता है।

7. निर्जरा (जल निकासी) :- छिद्रों से नाव में जो पानी भर चुका है, उसे बाहर निकालकर नाव को खाली करना भी जरूरी होता है। तभी उसका भार हलका होता है। निर्जरा तत्त्व आत्मा में प्रवेश पाये कर्मरूपी पानी को व्रत, प्रत्याख्यान तपस्या रूपी बाल्टियों में भर-भरकर बाहर फेंकने का प्रयत्न करता है। इससे आत्मा रूपी नाव हलकी होकर सुरक्षित चल सकती है। आत्मा में स्थित पानी को बाहर निकालने के लिए बाह्य-आभयन्तर तप की आवश्यकता होती है। तप से कर्म-निर्जरा होती है।

8. बंध (पानी का संग्रह) :- नौका दिन-रात पानी में रहती है। इस कारण उसके सूक्ष्म छिद्रों में भी पानी भरा रहता है। वह पानी लकड़ी के साथ एकमेक हुआ लगता है। परंतु उससे भी लकड़ी के गलने का व भारी होने का भय बना ही रहता है। इसी प्रकार जो कर्म आत्मा में प्रवेश कर चुके है, वे दूध और पानी की तरह या लोहा और अग्नि की तरह आत्मा के प्रत्येक प्रदेश के साथ घुले - मिले रहते हैं। आत्मा और कर्म का मिले रहना बंध है।

9. मोक्ष (मंजिल) :- अपनी नाव की पूर्ण सुरक्षा रखता हुआ कुशल नाविक प्रयत्न करके नाव को शीघ्र ही मंजिल रूपी किनारे पर लगाने का पुरुषार्थ करता है। किनारे पर पहुँचने पर वह अपने लक्ष्य को पा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेता है। आत्मा रूपी नौका तप, संयम से सुरक्षित रहता हुआ समुद्र में अपनी यात्रा पूरी करके संसार के समस्त दुःखों व भयों से मुक्त होकर मोक्षरूपी सुरम्य तट पर पहुँचकर अपनी यात्रा पूर्ण करता है।

चित्र के मध्य से बताया गया है कि संसार रूपी समुद्र में शुभ-अशुभ कर्म रूपी जल **आस्रव** रुपी छिद्रों द्वारा नाव में प्रतिक्षण प्रविष्ट होता रहता है। और उन छिद्रों में एकाकार हुआ रहता है। छिद्रों को रोकना **संवर** है, बाल्टी आदि से पानी उलीचना तथा सूर्य की किरणों के ताप से पानी का सूखना **निर्जरा** है। नाव का कुशल क्षेम पूर्वक किनारे लगना लोकाग्र भाग पर स्थित सिद्धक्षेत्र पर स्थित होना **मोक्ष** है।

तत्त्व के नाम	**भेद**	**व्याख्या**
जीव	14	जो जीता है, प्राणों को धारण करता है, जिसमें चेतना है, वह जीव है। यथा मानव, पशु, पक्षी वगैरह।
अजीव	14	जिसमें जीव, प्राण, चेतना नहीं है, वह अजीव है। यथा शरीर, टेबल, पलंग, मकान आदि।
पुण्य	42	शुभकर्म पुण्य है अर्थात् जिसके द्वारा जीव को सुख का अनुभव होता है, वह पुण्य है।
पाप	82	अशुभकर्म पाप है अर्थात् जिसके द्वारा जीव को दुःख का अनुभव होता है, वह पाप है।
आस्रव	42	कर्म के आने का रास्ता अर्थात् कर्म बंध के हेतुओं को आस्रव कहते हैं।
संवर	57	आते हुए कर्मों को रोकना... संवर है।
निर्जरा	12	कर्मों का क्षय होना निर्जरा है।
बंध	4	आत्मा और कर्म का दूध और पानी की तरह संबंध होना वह बंध है।
मोक्ष	9	संपूर्ण कर्मों का नाश या आत्मा के शुद्ध स्वरुप का प्रगटीकरण होना मोक्ष है।
	276	

तत्त्वों का क्रम :-

नवतत्त्वों में सर्वप्रथम जीव तत्त्व को स्थान दिया गया हैं। क्योंकि तत्त्वों का ज्ञाता, पुद्गल का उपभोक्ता, शुभ और अशुभ कर्म का कर्ता तथा संसार और मोक्ष के लिए योग्य प्रवृति का विधाता जीव ही है। यदि जीव न हो तो पुद्गल का उपयोग क्या रहेगा ? जीव की गति में अवस्थिति में, अवगाहना में और उपभोग आदि में उपकारक अजीव तत्त्व है, अतः जीव के पश्चात् अजीव का उल्लेख है। जीव और पुद्गल का संयोग ही संसार है। आश्रव और बंध ये दो संसार के कारण है अतः अजीव के पश्चात आश्रव और बंध को स्थान दिया गया है। संसारी आत्मा को पुण्य से सुख का बोध और पाप से दुःख का बोध होता है। पुण्य और पाप का स्थान कितने ही ग्रन्थों में आश्रव और बंध के पूर्व रखा गया है और कितने ही ग्रन्थों में उसके बाद में रखा गया है। संवर और निर्जरा मोक्ष का कारण है। कर्म की पूर्ण निर्जरा होने पर मोक्ष होता हैं अतः संवर, निर्जरा और मोक्ष यह क्रम रखा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मवाद एक पर्यवेक्षण (जीव तत्त्व) :-

आत्मा के संबंध में कितने ही दार्शनिकों ने अपना अपना मन्तव्य पेश किया है। प्रायः जगत को सभी पाँच महाभूतों की सत्ता मानते है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के सम्मेलन से ही आत्मा नामक तत्त्व की उत्पत्ति होती है। दार्शनिक चिंतन की इस उलझन में कभी पुरुष को कभी प्रकृति को, कभी प्राण को, कभी मन को आत्मा के रुप में देखा गया फिर भी चिंतन को समाधान प्राप्त नहीं हुआ और वह आत्मा विचारणा के क्षेत्र में निरंतर आगे बढ़ता रहा।

जीव-द्रव्य : आत्मद्रव्य स्वतंत्र है इसके प्रमाण :-

क्या जगत में जड़ से सर्वथा भिन्न स्वतंत्र चेतन - आत्मद्रव्य है ? इसके अस्तित्व में प्रमाण है ?

हां, स्वतंत्र आत्मद्रव्य है व इसमें एक नहीं अनेक प्रमाण है, -

1. जब तक शरीर में यह स्वतंत्र आत्मद्रव्य मौजूद है तब तक ही खाए हुए अन्न के रस रुधिर, मेद आदि के कारण केश नख आदि परिणाम होते हैं। मृतदेह में क्यों सांस नहीं ? क्यों वह न तो खा सकता है ? और न जीवित देह के समान रस, रुधिरादि का निर्माण कर सकता है ? कहना होगा कि इसमें से आत्मद्रव्य निकल गया है इसीलिए।

2. आदमी मरने पर इसका देह होते हुए भी कहा जाता है कि इसका जीव चला गया। अब इसमें जीव नहीं है। यह जीव ही आत्मद्रव्य है।

3. शरीर एक घर के समान है। घर में रसोई, दिवानखाना, स्नानागार आदि होते हैं, परंतु उसमें रहनेवाला मालिक स्वयं घर नहीं है। वह तो घर से पृथक ही है। उसी प्रकार शरीर की पाँच इन्द्रियाँ है परंतु वे स्वयं आत्मा नहीं है। आत्मा के बिना आँख देख नहीं सकती, कान सुन नहीं सकते, और जिह्वा किसी रस को चख नहीं सकती। आत्मा ही इन सब को कार्यरत रखती है। शरीर में से आत्मा के निकल जाने पर इसका सारा काम ठप हो जाता है - जैसे कि माली के चले जाने पर उद्यान उजाड़ हो जाता है।

4. आत्मा नहीं है इस कथन से ही प्रमाणित होता है कि आत्मा है। जो वस्तु कहीं विद्यमान हो, उसी का निषेध किया जा सकता है। जड़ को अजीव कहते हैं। यदि जीव जैसी वस्तु का अस्तित्व ही न हो तो अजीव क्या है ? जगत् में खरोखर ब्राह्मण है, जैन है, तभी कहा जा सकता है कि अमुक आदमी अब्राह्मण है अमुक अजैन है।

5. शरीर को देह, काया, कलेवर भी कहा जाता है। ये सब शरीर के पर्यायार्थक अथवा समानार्थक शब्द है। उसी प्रकार जीव के पर्यायशब्द आत्मा, चेतन, ज्ञानवान आदि है। भिन्न भिन्न पर्यायशब्द विद्यमान भिन्न - भिन्न पदार्थ के ही होते हैं। इससे भी अलग आत्मद्रव्य सिद्ध होता है। प्रीतिभोज में भाग लेनेवाला अधिक मात्रा में परोसनेवाले से कहता है - कि और मत डालिए, यदि मैं अधिक खाऊंगा तो मेरा शरीर बिगड़ेगा। यह 'मेरा' कहने वाली आत्मा अलग द्रव्य सिद्ध होती है। यदि शरीर ही आत्मा होता तो वह इस प्रकार कहता - मैं अधिक खाऊंगा तो मैं बिगडुंगा, किंतु कोई ऐसा कहता नहीं है।

जैन दृष्टि से जीव का स्वरूप :-

पंडित प्रवर श्री सुखलालजी का मन्तव्य है कि स्वतंत्र जीववादियों में प्रथम स्थान जैन परंपरा का है। उसके मुख्य दो कारण है। प्रथम कारण यह है कि जैन परंपरा की जीव-विषयक विचारधारा सर्वसाधारण को समझ में आ सकती है। जैन परंपरा में जीव और आत्मवाद की मान्यता उसमें कभी भी किञ्चित् मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ है।

जीव अनादि निधन है, न उसकी आदि है और न अंत है। वह अविनाशी है। अक्षय है। द्रव्य की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि से उसका स्वरुप तीनों कालों में एक-सा रहता है इसीलिए वह नित्य है और पर्याय की दृष्टि से वह भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत होता रहता हैं अतः अनित्य है।

• संसारी जीव - दूध और पानी, तिल और तेल, कुसुम और गंध जिस प्रकार जीव - शरीर एक प्रतीत होते हैं पर पिंजडे से पक्षी, म्यान से तलवार, घड़े से शक्कर अलग है वैसे ही जीव शरीर से अलग है। शरीर के अनुसार जीव का संकोच और विस्तार होता है। जो जीव हाथी के विराटकाय शरीर में होता है वही जीव चींटी के नन्हें शरीर में उत्पन्न हो सकता है। संकोच और विस्तार दोनों ही अवस्थाओं में उसकी प्रदेश संख्या न्यूनाधिक नहीं होती, समान ही रहती है।

• जैसे काल अनादि है, अविनाशी है। वैसे जीव भी अनादि है, अविनाशी है।

• जैसे पृथ्वी सभी वस्तुओं का आधार है, वैसे जीव ज्ञान, दर्शन आदि का आधार है।

• जैसे आकाश तीनों कालों में अक्षय, अनंत और अतुल है वैसे ही जीव तीनों कालों में अक्षय, अनंत और अतुल है।

• जीव अमूर्त है, तथापि अपने द्वारा संचित मूर्त शरीर के योग से जब तक शरीर का अस्तित्व रहता है, तब तक मूर्त जैसा बन जाता है।

• लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ पर सूक्ष्म या स्थूल - शरीर जीवों का अस्तित्व न हो।

• जिस प्रकार सोने और मिट्टी का संयोग अनादि है वैसे ही जीव और कर्म का संयोग भी अनादि है। अग्नि से तपाकर सोना मिट्टी से पृथक किया जाता है वैसे ही जीव भी संवर - तपस्या आदि द्वारा कर्मों से पृथक हो जाता है।

जीव के लक्षण :-

चेतना या उपयोग लक्षण वालों को जीव कहा जाता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग जीवों के लक्षण है।

आगमों में कहा गया है :-

"उवओग लक्खणे जीवे"

- भगवती शतक 2, उद्दे. 10

"जीवो उवओग लक्खणो"

- उत्तरा. अ. 28, गाथा 16

"उपयोगो लक्षणम्"

- तत्त्वार्थ अ. 2, सू. 8

जीव का लक्षण उपयोग है। जीव की चेतना परिणति को उपयोग कहते है। उपयोग का अर्थ है ज्ञान और दर्शन, ज्ञान का अर्थ है जानने की शक्ति। दर्शन का अर्थ है, देखने की शक्ति। ऐसे तो उपयोग के भेद करते हुए आगमों में साकारोपयोग (ज्ञान) और निराकारोपयोग (दर्शन) दो प्रकार बताये है। इसलिए जिसमें ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग पाया जाता है वह जीव है।

जीव को चेतन चैतन्य इसलिए कहते हैं कि उसमें सुख दुःख और अनुकूलता प्रतिकूलता आदि की अनुभूति करने की क्षमता है। उसमें ज्ञान होने से वह अपने हिताहित का बोध कर सकता है। पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काया के योग, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप दस प्राणों का धारक होने से जीव को प्राणी भी कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव स्वयं अरुपी है - लेकिन वह संसारी अवस्था में पुद्गल से बने शरीर में रहता है एवं शरीर के आकार को धारण करता है। यद्यपि स्वभाव से सर्व जीव एक समान होने से उनके भेद नहीं हो सकते फिर भी कर्म के उदय से प्राप्त शरीर की अपेक्षा से जीव के दो, तीन, चार, पाँच, छः, चौदह और विस्तृत रूप से यावत् 563 भेद भी हो सकते हैं। बिना प्राण के प्राणी जीवित नहीं रह सकता। भाव प्राण जीव के ज्ञानादि स्वगुण है जो सिद्धात्माओं में पूर्णतया प्रगट है तथा संसारी जीव को जीने के लिए द्रव्य प्राणों और पर्याप्तियों की अपेक्षा रहती है।

वर्तमान समय में हम संज्ञी पंचेन्द्रिय है। विश्व के अन्य जीव जंतुओं से हम अधिक बलवान और पुण्यवान है। हमें 10 प्राण, 6 पर्याप्तियाँ और आंशिक रुप में भाव प्राण रुप विशिष्ट शक्ति मिली है। इन विशिष्ट शक्तियों का सदुपयोग स्व पर हित में करने के लिए सदैव उद्यमवंत रहना चाहिए, क्योंकि बार बार ऐसी विशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त होना सुलभ नहीं हैं।

उत्कृष्ट पुण्य से प्राप्त ये शक्ति खत्म न हो जाय इसका पूरा ख्याल रखकर स्व-पर हित की पवित्रतम साधना में प्रयत्नशील बने रहना यह मनुष्य जीवन का कर्तव्य है।

विभिन्न दृष्टि से जीव के प्रकार

1. जीव का एक प्रकार - चेतना की अपेक्षा से।
2. जीव के दो प्रकार - संसारी और मुक्त / त्रस और स्थावर की अपेक्षा से
3. जीव के तीन प्रकार - पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद की अपेक्षा से
4. जीव के चार प्रकार - देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति, नरकगति की अपेक्षा से
5. जीव के पाँच प्रकार - एकेन्द्रिय, बेईन्द्रिय,तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय की अपेक्षा से
6. जीव के छः प्रकार - पृथ्विकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय की अपेक्षा से

जीव के मुख्य दो भेद :-

जीव

मुक्त — संसारी

मुक्त : जो जीव आठ कर्मों का क्षय करके, शरीर आदि से रहित, ज्ञानदर्शन रूप अनंत शुद्ध चेतना में रमण करते है।

संसारी : जो जीव आठ कर्मों के कारण जन्म मरण रूप संसार में नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गतियों में परिभ्रमण करते रहते है।

संसारी जीव के दो भेद

स्थावर — त्रस

स्थावर जीव : एक स्थान पर स्थिर रहने वाले जीव स्थावर जीव कहलाते हैं। इन जीवों की केवल एक स्पर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रिय होती है। अपनी सारी जैविक क्रियाएं वे इसी एक इन्द्रिय के द्वारा संपन्न करते हैं। स्थावर जीव पांच प्रकार के कहे गए हैं, यथा - 1. पृथ्वीकाय, 2. अप्काय, 3. तेउकाय, 4. वायुकाय और 5. वनस्पतिकाय जीव। इन समस्त स्थावर जीवों में काय शब्द जुड़ा हुआ है, जिसका अर्थ है शरीर अथवा समूह।

त्रस जीव : जो जीव गतिमान है। अपने हित की प्राप्ति और अहित निवृत्ति के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान की गमन क्रिया करते है। इन जीवों के चार भेद है : बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

जीव के चौदह भेद

जीव	भेद	
एकेन्द्रिय	2	सूक्ष्म और बादर
बेइन्द्रिय	1	बादर
तेइन्द्रिय	1	बादर
चउरिन्द्रिय	1	बादर
पंचेन्द्रिय	2	संज्ञी और असंज्ञी
कुल	7	7 पर्याप्ता, 7 अपर्याप्ता = 14 भेद

सूक्ष्म :- जो आंख से दिखाई न दे (काटने से कटे नहीं, अग्नि से जले नहीं, पानी में डूबे नहीं) ऐसे एक या अनेक जीवों के शरीर समूह को सूक्ष्म कहते हैं।

बादर :- बाह्यचक्षु से जो दिखाई दे सके और जिनका छेदनभेदन हो सके, ऐसे एक या अनेक जीवों के शरीर समूह को बादर कहते हैं।

पर्याप्ता :- जो जीव अपने योग्य पर्याप्ति को पूर्ण करके मरता है।

अपर्याप्ता :- जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियां पूर्ण किये बिना मरता है।

संज्ञी :- जिसमें मन होता है।

असंज्ञी :- जिसमें मन नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याप्ति

पर्याप्ति :- ग्रहण किये हुए पुद्गलों को आहारादि के रूप में परिणमन (परिवर्तन) करने वाली पुद्गल की सहायता से बनी हुई, आत्मा की एक विशिष्ट शक्ति अथवा संसारी जीवों के जीने की एक जीवन शक्ति।

6 पर्याप्तियाँ

1. आहार :- जिस शक्ति से जीव आहार योग्य पुद्गल ग्रहण करके उसे खल और रस के रूप में परिणमन करें।

2. शरीर :- जिस शक्ति से जीव प्रवाही रूप आहार को रस (धातु विशेष) रुधिर, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा और वीर्य इन सात धातुओं के रुप में परिणमन करें।

3. इन्द्रिय:- जिस शक्ति से जीव शरीर के रूप में परिवर्तित पुद्गलों से इन्द्रिय योग्य पुद्गल को ग्रहण करके, उसे इन्द्रिय रुप में परिणमन करें।

4. श्वासोच्छ्वास :- जिस शक्ति से जीव श्वासोच्छ्वास योग्य वर्गणा ग्रहण करके, श्वासोच्छ्वास के रुप में परिणमन करके, अवलम्बन लेकर विसर्जन करें।

5. भाषा :- जिस शक्ति से जीव योग्य वर्गणा को ग्रहण करके उन्हें भाषा के रूप में परिणमन करके, अवलम्बन लेकर छोडे।

6. मन :- जिस शक्ति से जीव मन योग्य वर्गणा ग्रहण करके उन्हें मन रूप में परिणमन करें प्रवलम्बन लेकर जिसका परित्याग करें।

कोई भी जीव आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण किए बिना नहीं मरता।

प्राण :- जीने के साधन को प्राण कहते है।
प्राण के मुख्य दो प्रकार है - 1. द्रव्य प्राण 2. भाव प्राण
संसारी जीवों में द्रव्य और भाव ये दोनो प्राण होते हैं। सिद्धों में सिर्फ भाव प्राण होते हैं। उनमें द्रव्य प्राण नहीं होते हैं।

द्रव्यप्राण (10)		भावप्राण(4)
1. इन्द्रिय	5	1. दर्शन
2. बल	3	2. ज्ञान
3. श्वासोच्छ्वास	1	3. चारित्र
4. आयुष्य	1	4. वीर्य

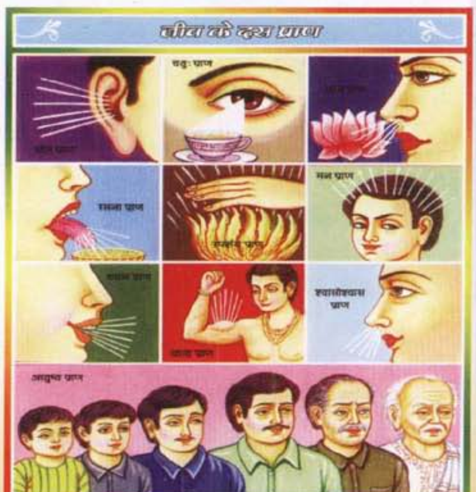

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रिय - 5 :- स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुन्द्रिय, श्रोतेन्द्रिय
बल - 3 :- मनबल, वचनबल, कायबल

प्रत्येक जीव को प्राप्त इन्द्रियाँ, प्राण एवं पर्याप्तियाँ

जीव	इन्द्रिय	प्राण	पर्याप्ति
एकेन्द्रिय	1	4	4
	स्पर्शेन्द्रिय	स्पर्शेन्द्रिय काय बलप्राण श्वासोच्छ्वास आयुष्य	आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास
बेइन्द्रिय	2	6	5
	स्पर्शेन्द्रिय रसनेन्द्रिय	स्पर्शेन्द्रिय रसनेन्द्रिय वचन बलप्राण काय बलप्राण श्वासोच्छ्वास आयुष्य	आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा
तेइन्द्रिय	3	7	5
	स्पर्शेन्द्रिय रसनेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय	स्पर्शेन्द्रिय रसनेन्द्रिय घ्रोणेन्द्रिय वचन बलप्राण काय बलप्राण श्वासोच्छ्वास आयुष्य	आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा
चउरिन्द्रिय	4	8	5
	स्पर्शेन्द्रिय रसनेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय चक्षुइन्द्रिय	स्पर्शेन्द्रिय रसनेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय चक्षुइन्द्रिय वचन बलप्राण, काय बलप्राण श्वासोच्छ्वास, आयुष्य	आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा
पंचेन्द्रिय	5	9	5
(असंज्ञी)	स्पर्शेन्द्रिय रसनेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय	पांच इन्द्रिय वचन बलप्राण काय बलप्राण	आहार शरीर इन्द्रिय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	चक्षुइन्द्रिय श्रोतेन्द्रिय	श्वासोच्छ्वास आयुष्य	श्वासोच्छ्वास भाषा
पंचेन्द्रिय	5	10	6
(संज्ञी)	स्पर्शेन्द्रिय रसनेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय चक्षुइन्द्रिय श्रोतेन्द्रिय	पांच इन्द्रिय वचन बलप्राण काय बलप्राण मन बलप्राण श्वासोच्छ्वास	आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा मन

जीव के 563 भेद

चार गति के संसारी जीव के 563 भेद

नरक - 14 भेद | तिर्यंच - 48 भेद | मनुष्य - 303 भेद | देव - 198 भेद

कुल - 563 भेद

नरक :-

जिस स्थान पर जीव के अशुभ कर्मों का बुरा फल प्राप्त होता है, उसे नरक कहते हैं। उस स्थान पर उत्पन्न होकर कष्ट पानेवाले जीव नारकी कहलाते हैं।

नरक के जीवों का निवास अधोलोक में हैं। जहाँ सात नरक भूमियाँ क्रमशः एक के नीचे दूसरी अवस्थित है। जहाँ नरक जीवों के चारक (बंदीगृह की तरह) उत्पत्ति स्थान है, नरकागार है। ये नरकागार आजन्म कारागार वाले कैदियों की अंधेरी कोठरियों से या काले पानी की सजा से किसी तरह भी कम नहीं है, बल्कि उनसे भी कई गुने भयंकर, दुर्गन्धमय, अन्धकारमय और सड़ान वाले हैं। मनुष्य लोक में जो कोई चोरी या हत्या जैसा भयंकर अपराध करता है तो पुलिस वाले उसे पकड़कर थाने में ले जाते हैं, उससे अपना अपराध स्वीकार करवाने के लिए निर्दयता से मारते, पीटते और सताते हैं। वैसे ही नरक में कुछ असुरकुमार जाति के देव है जो इन नारकों को अपने पूर्वकृत अपराधों की याद दिला दिलाकर भयंकर से भयंकर यातना देते हैं। वे बड़ी बेरहमी से उन्हें विविध शस्त्रों से मारते, पीटते हैं, उनके अंगोपांगों को काट डालते हैं, शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं, उन्हें पैरों से कुचलते हैं, उन्हें नोचते हैं, शरीर की बोटी - बोटी करते हैं।

नारकी के भेद 14

नरक के नाम	गोत्रीय नाम	
1. धम्मा	रत्नप्रभा	
2. वंसा	शर्कराप्रभा	इन 7 के पर्याप्ता
3. सीला	वालुकाप्रभा	और 7 के अपर्याप्ता
4. अंजना	पंकप्रभा	
5. रिट्ठा	धूमप्रभा	
6. मघा	तमःप्रभा	
7. माघवती	महातमःप्रभा	
		कुल 14 भेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रत्नप्रभा आदि जो पृथ्वियों के नाम प्रसिद्ध है, वे उनके गौत्र है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो रत्नप्रभा आदि नाम उस स्थान विशेष के प्रभाव वातावरण (पर्यावरण) के कारण हैं।

रत्नप्रभा भूमि काले वर्ण वाले भयंकर रत्नों से व्याप्त है।

शर्कराप्रभा भूमि भाले और बरछी से भी अधिक तीक्ष्ण शूल जैसे कंकर से भरी है।

बालुका प्रभा पृथ्वी में भाड़ की तपती हुई गर्म रेत से भी अधिक उष्ण रेत है।

पंक प्रभा में रक्त, मांस, पीव आदि दुर्गन्धित पदार्थों का कीचड़ भरा है।

धूमप्रभा में मिर्च आदि के धूएँ से भी अधिक तेज (तीक्ष्ण) दुर्गन्धवाला धुआं व्याप्त रहता है।

तमःप्रभा में सतत घोर अंधकार छाया रहता है।

महातमःप्रभा में घोरातिघोर अंधकार व्याप्त है।

उक्त सात नरकों में रहने वाले जीवों के अपर्याप्त और पर्याप्त कुल 14 भेद।

तिर्यंच के भेद 48

एकेन्द्रिय के	22 भेद
विकलेन्द्रिय के	6 भेद
तिर्यंच पंचेन्द्रिय के	20 भेद
कुल 48 भेद	

एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय के भेद

एकेन्द्रिय के भेद 22:-

	पृथ्वीकाय	अप्काय	तेउकाय	वायुकाय	वनस्पतिकाय		पर्याप्त	अपर्याप्त
					साध.	प्रत्येक		
सूक्ष्म	1	1	1	1	1	0*	5	5
बादर	1	1	1	1	1	1	6	6
			कुल = 11+11 = 22			* प्रत्येक वनस्पतिकाय बादर ही होती है।		

विकलेन्द्रिय के भेद 6:-

	पर्याप्त	अपर्याप्त	कुल
बेइन्द्रिय	1	1	2
तेइन्द्रिय	1	1	2
चउरिन्द्रिय	1	1	2
		कुल -	6

तिर्यंच पंचिन्द्रिय के भेद 20:-

1. जलचर		1	
2. स्थलचर	- चतुष्पद	1	
3. स्थलचर	- उरपरिसर्प	1	5 गर्भज
4. स्थलचर	- भुजपरिसर्प	1	5 समूर्च्छिम
5. खेचर		1	
			10 भेद

10 पर्याप्त + 10 अपर्याप्त = कुल - 20 भेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. पृथ्वीकाय जीव :- जिनका शरीर ही पृथ्वी है, पृथ्वीकाय जीव है। किंतु एक बात ध्यान रखने योग्य है कि पृथ्वी पर आश्रय पानेवाले जीव पृथ्वीकाय जीव नहीं है। वे तो त्रसकाय जीव है। स्फटिक, मणि, रत्न, सुरमा, हिंगलु, परवाला, हरताल, धातु (सोना, चांदी, तांबा, सीसा, लोहा, रांगा, जस्ता आदि), पारा, मिट्टी, पाषाण, नमक, खार (क्षार), फिटकरी तथा खडी (गीटरी) आदि पृथ्वीकाय जीव के उदाहरण है। पृथ्वीकाय जीवों के चार भेद हैं - 1, सूक्ष्म पृथ्वीकाय अपर्याप्त, 2. सूक्ष्म पृथ्वीकाय पर्याप्त 3. बादर पृथ्वीकाय अपर्याप्त 4. बादर पृथ्वीकाय पर्याप्त।

2. अप्काय जीव :- जिन एकेन्द्रिय जीवों का शरीर ही जल या पानी हो, वे जीव अप्काय जीव है। सूक्ष्म, बादर पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा से अप्काय जीव के भी चार भेद हैं। कुआँ, तालाब, बावड़ी, भूमि का पानी, वर्षा आदि आकाश का पानी, हरे वृक्ष - तृण पर का पानी, वनस्पति पर का पानी, ओस, बर्फ, ओले आदि घनोदधि तथा हाईड्रोजन और ऑक्सीजन के संयोग से निर्मित जल आदि अप्काय जीवों के उदाहरण है।

3. तेउकाय जीव:- जिन स्थावर जीवों का शरीर ही अग्नि है, वे जीव तेउकाय जीव है। सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त की अपेक्षा से चार भेद हैं। उदाहरणार्थ - अंगारा, ज्वाला, भ्रमरा, भोभर, भट्टी, उल्का, अर्थात् आकाश में दिखाई देती अग्नि रेखाएँ, अशनी अर्थात् वज्र आदि अग्नि, कणिया अर्थात् गिरते हुए तारे जैसे अग्निकण तथा विद्युत बिजली आदि।

4. वायुकाय जीव :- जिन स्थावर जीवों का शरीर ही वायु है, वे वायुकाय जीव हैं। इनके भी सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा से चार भेद हैं। इन जीवों के उदाहरण है- उद्भ्रामक या संवर्तक वायु अर्थात् ऊँची घूमती वायु, भूतालिया आदि, उत्कालिक वायु अर्थात् नीचे भूमि को स्पर्श करता हुआ वायु, गोलाकार घूमता वायु, आँधी आदि महावात, मंद-मंद सुहावनी चलने वाली शुद्ध वायु, गुंजार करती हुई वायु आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. **वनस्पतिकाय जीव**:- जिन स्थावर जीवों का शरीर ही वनस्पति है, वनस्पति के 2 भेद :- प्रत्येक, साधारण

1. **प्रत्येक वनस्पतिकाय** :- जिनके एक शरीर में एक जीव हो - फल, फुल, छाल, थड, मूल, पत्ते, बीज आदि।

2. **साधारण वनस्पतिकाय**:- जिनके एक शरीर में अनंत जीव हो। भूमि के भीतर पैदा होनेवाले सर्वप्रकार के कंद, बीज से निकलते हुए अंकुर, कूंपल, पांच रंग की नीलफूल, काई जो जल के ऊपर छाई रहती है, भूमि विस्फोट सफेद रंगी की छत्राकार वनस्पति, आर्दत्रिक - हरी अदरक, हल्दी, कचूरा, छोटी-बड़ी गाजर, नागरमोथा, बथुआ की भाजी, छोटी मोगरी, पालक की भाजी, सर्वप्रकार के बीज, कोमल फल, कुवार-पाठा, थूर की जाति, गूगल, नीम गिलोय आदि साधारण वनस्पतिकाय जीव के भेद है।

इस प्रकार संपूर्ण स्थावर जीव के बाईस भेद है।

त्रस जीव

बेइन्द्रिय जीव :- जिनको स्पर्श (शरीर), रस (जीभ) यह दो इन्द्रियाँ होती है।

शंख, कोडी, गींडोले (बड़े कृमि), जलोख, चंदनक (अक्ष), अलसिया, केचुए, लालीया (बासी रोटी वगेरे में उत्पन्न होते हैं), कृमि, पूरा, काष्ठ के कीड़े-घुन, चुडेल।

तेइन्द्रिय जीव :- जिनको स्पर्श, रस, घ्राण (नाक) यह तीन इन्द्रियाँ होती है।

कान खजूरा, खटमल, कीड़ी, उदेही, लट्ट, मकोडे, घीमैंल (जो खराब घृत में पैदा होती हैं) सवा (मनुष्य के शरीर के अंगों में पैदा होनेवाले कीड़े) चिंचड, गोकीड (गाय आदि के शरीर में चिपक कर रहते हैं) चोर कीड़े (विष्ठा के कीड़े) गोमय (गोबर में पैदा होते हैं), धान्य के कीड़े, कुंथुआ, गोयालिका, इलिका, इन्दगोप (मखमली - लाल रंग के जीव वर्षा में पैदा होते हैं।)

चउरिन्द्रिय जीव :- जिनको स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु (आँख) ये चार इन्द्रियाँ होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिच्छु, बगाई, भंवरा, टाटीयां, टिड्डी, मक्खी, डांस, मच्छरों की जाति, कसारी, खडमांकडी, पतंगीये आदि। उक्त दो, तीन, चार, इन्द्रिय वाले जीव "**विकलेन्द्रिय**" कहे जाते हैं।

पंचेन्द्रिय जीव :- जिनको स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, श्रोत (कान) ये पाँच इन्द्रियाँ होती है। तिर्यंच (पशु-पक्षी) पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के तीन भेद है - 1. जलचर - जल में रहने वाले। 2. स्थलचर :- जमीन पर चलने वाले । 3. खेचर - आकाश में उड़ने वाले ।

1. **जलचर** - जल में चलनेवाले, जैसे मछली, मेंढक, मगरमच्छ, व्हेल, केकड़ा आदि।

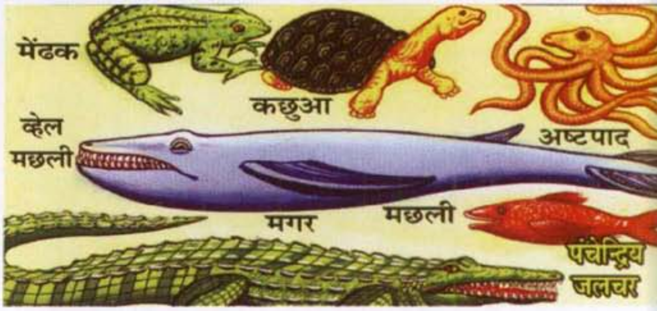

उक्त पाँचों के गर्भज (गर्भ में उत्पन्न होने वाले) तथा समूर्च्छिम (माता-पिता के संयोग के बिना उत्पन्न) के भेद से 10 भेद होते है।

2. **स्थलचर के तीन भेद है।**

(क) चतुष्पद :- चौपाये। जैसे हाथी, घोड़ा, गधा, बैल, गाय, कुत्ता, सिंह आदि।

(ख) उरपरिसर्प :- जो प्राणी पेट के बल चलते हैं या रेंगते हैं। जैसे सर्प, अजगर आदि।

(ग) भुजपरिसर्प :- जो प्राणी भुजा के बल चलते हैं। जैसे नेवला, बंदर, गिलहरी, चूहा, छिपकली आदि।

2. **खेचर** - जो प्राणी आकाश में उड़ते हैं, जैसे तोता, कोयल, चिड़िया, मोर, मुर्गा, हंस, कबूतर आदि। इनमें रोमज, रोम वाले जैसे मोर, तथा चर्मज, चमडे की पंख वाले चमगादड़ आदि भेद भी है।

इनके भी पर्याप्त - अपर्याप्त के भेद से 20 भेद हो जाते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य के 303 भेद

15	कर्म भूमि के मनुष्य
30	अकर्म भूमि के मनुष्य
56	अन्तर्द्वीप के मनुष्य
101	गर्भज मनुष्य

101 गर्भज पर्याप्ता मनुष्य
101 गर्भज अपर्याप्ता मनुष्य
101 समूर्च्छिम अपर्याप्ता मनुष्य

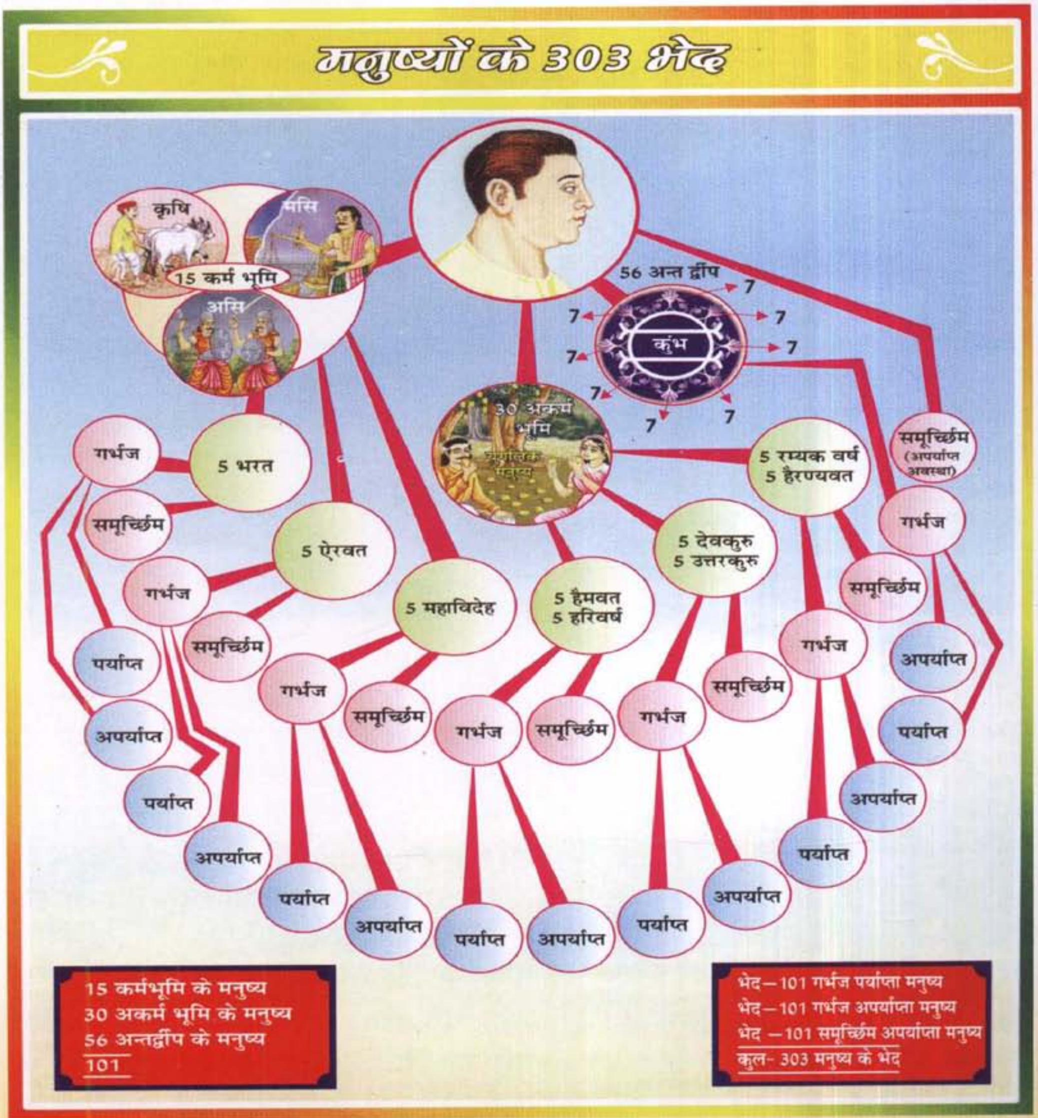

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्यों का जन्म मध्यलोक के अन्तरवर्ती अढ़ाईद्वीप में ही होता है। अर्थात् जम्बूद्वीप, धातकीखंड तथा अर्धपुष्कर द्वीप इन अढ़ाई द्वीपों में मनुष्यों का जन्म तथा निवास है।

मनुष्यों के मुख्यतः दो भेद है - 1. गर्भज (माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाले) 2. सामूर्च्छिम (गर्भजन मनुष्यों के मल-मूत्र आदि 14 प्रकार के शरीर के मलों में उत्पन्न होने वाले)।

गर्भज मनुष्यों के तीन भेद है - 1. कर्मभूमिज, 2. अकर्मभूमिज तथा 3. अन्तर्द्वीपज।

15 कर्मभूमियाँ - जहाँ पर असि (शस्त्र - चालन व रक्षा कार्य), मसि (लेखन व व्यापार आदि) तथा कृषि (खेती आदि) कर्म करके जीवन निर्वाह किया जाता है उसे कर्म भूमि कहते है। कर्मभूमि में जन्मा मनुष्य ही धर्म की आराधना कर स्वर्ग तथा मोक्ष आदि प्राप्त कर सकता है। कर्मभूमियाँ 15 हैं। 5 भरत क्षेत्र, 5 ऐरावत क्षेत्र, तथा 5 महाविदेह। ये क्षेत्र जम्बूद्वीप में 1-1, घातकीखंड में 2-2 तथा पुष्करार्ध द्वीप में 2-2 यों 5+5+5 = 15 हैं।

30 अकर्मभूमियाँ - जहाँ असि, मसि, कृषि आदि कर्म किये बिना ही केवल दस प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा जीवन निर्वाह होता है, वह अकर्मभूमि कहलाती है। अकर्मभूमियाँ 30 है। 5 देव कुरु, 5 उत्तर कुरु, 5 हरिवास, 5 रम्यक्वास, 5 हैमवत, तथा 5 हैरण्यवत क्षेत्र। कर्मभूमि की तरह ये क्षेत्र भी 1-1 जम्बूद्वीप में 2-2 घातकी खण्ड तथा 2-2 पुष्करार्ध द्वीप में है। इस प्रकार 5×6=30 अकर्म भूमियाँ है। इनमें रहने वाले मानव युगलिया कहे जाते है।

56 अन्तर्द्वीप- जम्बूद्वीप के मध्य में एक लाख योजन का मेरूपर्वत है। मेरू पर्वत की दक्षिण दिशा में भरत क्षेत्र के पहले एक लघु हिमवान् पर्वत है। इसका पूर्वी तथा पश्चिमी किनारा लवणसमुद्र के भीतर तक चला गया है। भीतर में जाकर इस पर्वत से हाथी के दांत की तरह नुकीली दो-दो शाखाएँ (दाढाएँ) निकली हैं जो एक उत्तर में व एक दक्षिण में लवणसमुद्र के 900 योजन भीतर तक चली गई है। लवणसमुद्र की जगती से 300 योजन भीतर जाने पर इस शाखाओं पर योजन 300 से 900 योजन विस्तार वाले गोलाकार सात-सात द्वीप आते है। पहला द्वीप 300 योजन दूर जानेपर, दूसरा 400 योजन इस प्रकार सातवाँ द्वीप 900 योजन भीतर जाने पर आता है। इन द्वीपों में मनुष्यों की बस्ती है। यहाँ रहनेवाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज कहलाते हैं। पूर्व दिशा की दाढा पर 7+7 =14 । इसी प्रकार 1 पश्चिम दिशा की दाढा पर 14 कुल लघु हिमवान् पर्वत की चार दाढाओं पर 28 द्वीप है। इसी प्रकार मेरु पर्वत से उत्तर दिशा में, ऐरवत क्षेत्र से पहले शिखरी पर्वत है। इस पर्वत से भी उसी प्रकार की चार दाढाएँ निकली है। जिन पर 7-7 द्वीप हैं। यह 28 द्वीप मेरु से दक्षिण में 28 उत्तर में कुल 56 अन्तर्द्वीप कहलाते हैं।

युगलिया मनुष्य - माता - पिता से दो संतानें एक साथ जन्म लेती है। इस कारण इन्हें युगल अथवा युगलिया कहते हैं। ये कृषि आदि कर्म नहीं करते अपितु 10 प्रकार के कल्पवृक्षों के सहारे ही जीवन निर्वाह करते हैं। यह बहुत सरल परिणामी, अल्पकर्मा होते हैं। मृत्यु प्राप्त कर देवलोक में जाते हैं। युगलिया मनुष्य त्याग-तप आदि धर्माराधना नहीं कर सकते। इसलिए ये मोक्ष गति में नहीं जा सकते। इस प्रकार गर्भज मनुष्यों के 15 कर्मभूमि के + 30 अकर्म भूमि के + 56 अन्तर्द्वीप के = 101 भेद होते हैं।

ये अपने उत्पत्ति के समय एक अन्तर्मुहूर्त्त के पहले अपर्याप्त दशा में रहते हैं तथा उसके पश्चात् आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन-इन छह पर्याप्तियों से पूर्ण होते हैं। इस प्रकार 101 अपर्याप्त और 101 पर्याप्त, कुल 202 भेद इन गर्भज मनुष्यों के होते हैं।

सामूर्च्छिम मनुष्य - सामूर्च्छिम जीव उन्हें कहते हैं जो माता के गर्भ के बिना ही उत्पन्न होते हैं। समूर्च्छिम मनुष्य, उक्त मनुष्यों के 14 प्रकार के अशुचि स्थानों में उत्पन्न होते हैं । जैसे 1. मल 2. मूत्र 3. कफ 4. नाक का मैल 5. वमन 6. पित्त 7. पीव 8. रक्त 9. शुक्र 10. वीर्य आदि के पुनः गीले हुए पुद्‌गल 11.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृत शरीर (कलेवर) 12. स्त्री-पुरुष का संयोग समय 13. गंदे पानी की नालियाँ आदि में तथा 14. अन्य अशुचि स्थानों में। उक्त 14 वस्तुएँ जब मनुष्य शरीर में से अलग होती है तब अन्तर्मुहूर्त समय में उनमें असंख्यात समूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं तथा अपर्याप्त अवस्था में ही मर जाते हैं। इनके 101 अपर्याप्त भेद ही होते है। इस प्रकार तीनों प्रकार के 101×3=**303 भेद** मनुष्यों के होते हैं।

देवों के भेद

देवों के मुख्य भेद 4

भवनपति	व्यंतर	ज्योतिषी	वैमानिक

1. भवनपति के भेद 25	भवनपति	10
	परमाधामी	15
	कुल भेद	25
2. व्यंतर के भेद 26	व्यंतर	8
	वाण व्यंतर	8
	तिर्यक जंभृक	10
	कुल भेद	26
3. ज्योतिषी के भेद 10	स्थिर (मनुष्य लोक के बाहर)	5
	अस्थिर (मनुष्य लोक में)	5
	कुल भेद	10
4. वैमानिक के भेद 38	देवलोक	12
	ग्रैवेयक	9
	लोकान्तिक	9
	अनुत्तर विमान	5
	किल्विषिक (अधम जाति के देव)	3
	कुल भेद	38
देवों के 198 भेद	भवनपति	25
	व्यंतर	26
	ज्योतिषी	10
	वैमानिक	38
	योग	99
	99 पर्याप्ता+ 99 अपर्याप्ता =	198

देवता का अर्थ है जो विशिष्ट शक्तियों से संपन्न हो। देवताओं में कुछ जन्मजात विशेषताएँ होती है - जैसे उनका वैक्रिय शरीर। इस शरीर में वे चाहे जैसा छोटा-बड़ा एवं सूक्ष्म-स्थूल रूप बना सकते हैं। तीव्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गति, विशेष प्रभायुक्त शरीर तथा उत्तम प्रकार के काम-भोग सुखों की उपलब्धि।

देवों के चार प्रकार है - (1) भवनपति (असुरकुमार आदि) (2) व्यन्तर (भूत, पिशाच आदि) (3) ज्योतिषी (सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा), तथा (4) वैमानिक देव (ऊपर सौधर्मकल्प आदि विमानों में रहने वाले)।

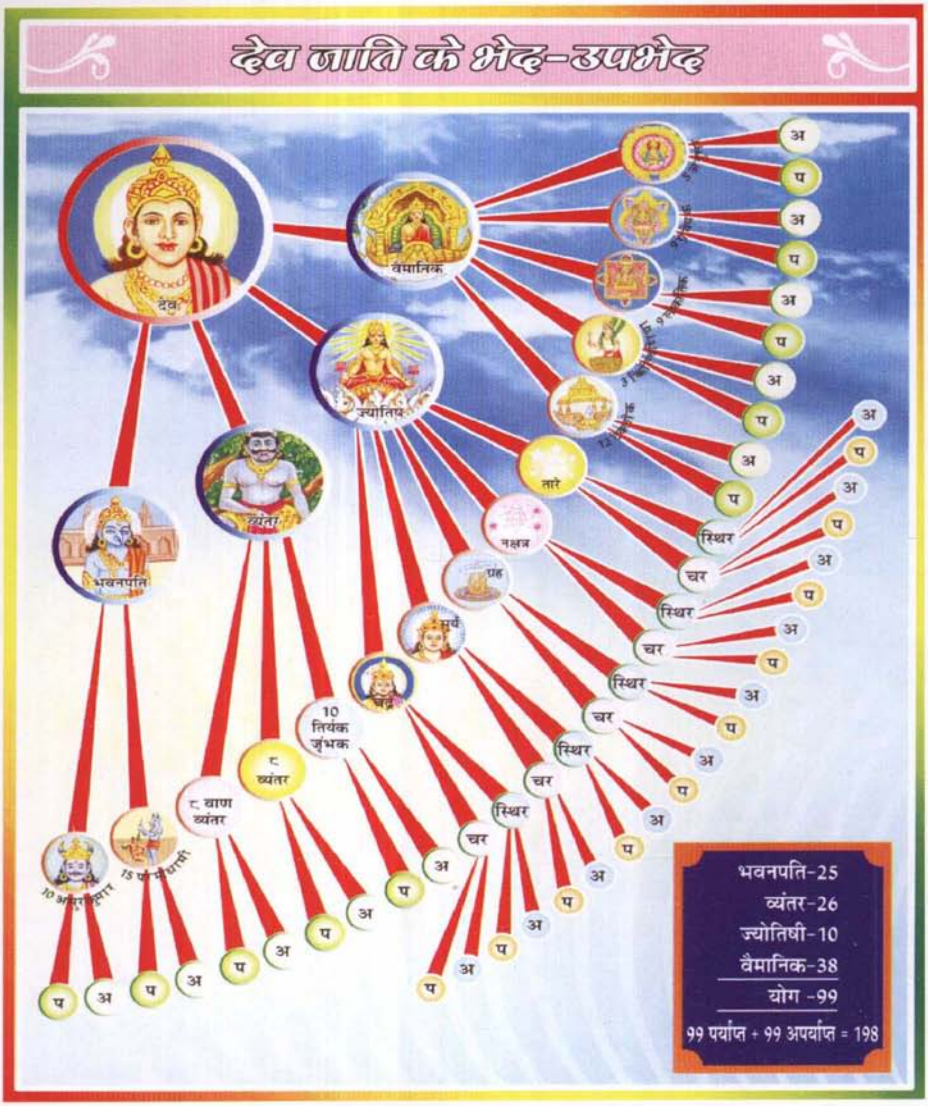

1. भवनपति देव - इन देवों का निवास स्थान मेरु पर्वत से नीचे अधोलोक में प्रथम नरक भूमि रत्नप्रभा के बीच में बने भवनों में है। इनके मुख्य रुप से दो भेद है। - (1) भवनपति तथा (2) परमाधामी।

भवनपति देवों के दस भेद इस प्रकार है 1. असुरकुमार 2. नागकुमार 3. सुपर्णकुमार 4. विद्युतकुमार 5. अग्निकुमार 6. द्वीपकुमार 7. उदधिकुमार 8. दिशाकुमार 9. वायुकुमार 10. स्तनितकुमार।

इनके किसी के शरीर का रंग श्वेत, किसी का काला किसी का सोने जैसा चमकदार तथा किसी का लाल, हरा आदि होता है। ये क्रीड़ाप्रिय तथा सुकुमार प्रकृति के देव होते हैं। किसी की पूजा-प्रार्थना से शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं। इनके मुकुटों पर बने अलग-अलग चिन्हों से इनकी पहचान हो जाती है। उत्तर दिशा में तथा दक्षिण दिशा में रहने के कारण इनके 20 भेद भी होते हैं।

भवनपति देवों की दूसरी जाति है - परमाधामी देव । ये बड़े क्रूर, कठोर तथा निर्दय स्वभाव के होते हैं। दूसरों को पीड़ा देने में ही इन्हें आनंद आता है। ये देव तीसरी नरक तक नरक में रहे नारकी जीवों को तरह-तरह की यातनाएँ देते रहते हैं। इनके 15 भेद हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमाधर्मिक (परमाधामी) देवों के 15 भेद

(१) अम्ब

(२) अम्बरीष

(३) श्याम

(४) शबल

(५) रुद्र (रौद्र)

(६) उपरुद्र (उपरौद्र)

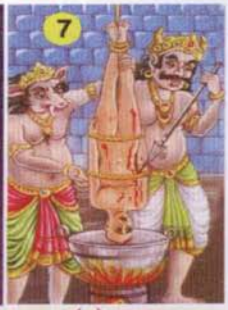

(७) काल

(८) महाकाल

(९) असिपत्र

(१०) धनुष

(११) कुम्भ

(१२) बालुक

(१३) वैतरणी

(१४) खरस्वर

(१५) महाघोष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. अम्ब - असुर जाति के ये देव नारकी जीवों को ऊपर आकाश में ले जाकर एकदम छोड़ देते हैं।

2. अम्बरीष - छुरी आदि के द्वारा नारकी जीवों के छोटे - छोटे टुकड़े करके भाड़ में पकने योग्य बनाते हैं।

3. श्याम - ये रस्सी या लात - घूँसे आदि से नारकी जीवों को पीटते है और भयंकर स्थानों में पटक देते हैं, ये जो काले रंग के होते हैं अतः श्याम कहलाते हैं।

4. शबल - जो नारकी जीवों के शरीर की आँते, नसें और कलेजे आदि को बाहर खींच लेते हैं। ये शबल अर्थात् चितकबरे रस वाले होते हैं, इसलिए इन्हें शबल कहते हैं।

5. रुद्र (रौद्र) - जो नारकी जीवों को भाला, बर्छी आदि शस्त्रों में पिरो देते है और जो रौद्र (भयंकर) होते हैं, इन्हें रुद्र कहते हैं।

6. उपरुद्र (उपरौद्र) - जो नारकियों के अंगोपांगों को फाड़ डालते है और जो महारौद्र (अत्यंत भयंकर) होते हैं, उन्हें उपरुद्र कहते हैं।

7. काल - जो नारकियों को कडाही में पकाते हैं और काले रंग के होते हैं, उन्हें काल कहते हैं।

8. महाकाल - जो नारकीय जीवों के चिकने मांस के टुकड़े-टुकड़े करते हैं, एवं वापस उन्हीं को खिलाते हैं और बहुत काले होते हैं, उन्हें महाकाल कहते हैं।

9. असिपत्र - जो वैक्रिय शक्ति द्वारा असि अर्थात् तलवार के आकार वाले पत्तों से युक्त वन की विक्रिया करके उसमें बैठे हुए नारकी जीवों के ऊपर तलवार सरीखे पत्ते गिराकर तिल सरीखे छोटे-छोटे टुकड़े कर डालते हैं, उन्हें असिपत्र कहते हैं।

10. धनुष - जो धनुष के द्वारा अर्द्ध - चन्द्रादि बाणों को फैंककर नारकी जीवों के कान आदि को छेद देते हैं, भेद देते हैं और भी दूसरी प्रकार की पीड़ा पहुँचाते हैं, उन्हें धनुष कहते हैं।

11. कुम्भ - जो नारकी जीवों को कुम्भियों में पकाते हैं, उन्हें कुम्भ कहते हैं।

12. वालुका - जो वैक्रिय द्वारा बनाई हुई कदम्ब पुष्प के आकार वाली अथवा वज्र के आकार वाली बालू रेत में नारकी जीवों को चने की तरह भूनते हैं, उन्हें वालुका कहते हैं।

13. वैतरणी - जो असुर मांस, रुधिर, ताँबा, सीसा आदि गरम पदार्थों से उबलती हुई नदी में नारकी जीवों को फेंककर उन्हें तैरने के लिए बाध्य करते हैं उन्हें वैतरणी कहते हैं।

14. खरस्वर - जो व्रज कण्टकों से व्याप्त शाल्मली वृक्ष पर नारकी जीवों को चढ़ाकर, कठोर स्वर करतें हुए अथवा करुण रुदन करते हुए नारकी जीवों को खींचते हैं, उन्हें खरस्वर कहते हैं।

15. महाघोष - जो डर से भागते हुए नारकी जीवों को पशु की तरह बाड़े में बन्द कर देते हैं तथा जोर से चिल्लाते हुए उन्हें वहीं रोक रखते हैं, उन्हें महाघोष कहते है।

पूर्वजन्म में क्रूर क्रिया तथा संक्लिष्ट परिणाम वाले हमेशा पाप में लगे हुए भी कुछ जीव, पंचाग्नि तप आदि अज्ञानपूर्वक किये गये काय-क्लेश से आसुरी गति को प्राप्त करते हैं और परमाधार्मिक देव बनते हैं।

2. व्यंतर जाति के देव - ये भी मुख्यतः दो प्रकार के है - 1. व्यंतर 2. वाण व्यंतर । ये देव मेरू पर्वत के नीचे तथा भवनपति देवों से ऊपर मध्यलोक की सीमा में रहते हैं।

व्यंतर देव आठ प्रकार के है - 1. पिशाच 2. भूत 3. यक्ष 4. राक्षस 5. किन्नर 6. किंपुरुष 7. महोरग 8. गंधर्व।

वाणव्यंतर देवों के भी 8 भेद है - 1. आणपन्नी 2. पाणपन्नी 3. ऋषिवादी 4. भूतिवादी 5. कंदित 6. महाकंदित 7. कूष्मांड 8. पतंगदेव।

व्यंतरदेवों की एक जाति और है - **जृम्भक देव**। तिर्यक लोक में रहने से इन्हें तिर्यक्जृम्भक भी कहते हैं। वे अपनी इच्छानुसार स्वतंत्र प्रवृति करनेवाले अर्थात् निरंतर क्रीड़ा में रत रहनेवाले देव है। ये अति प्रसन्नचित रहते हैं और मैथुन सेवन की प्रवृति में आसक्त बने रहते हैं। जिन मनुष्यों पर यह प्रसन्न हो जाते है उन्हें धन संपत्ति आदि से सुखी कर देते हैं और जिन पर ये कुपित हो जाते है उनकों कई प्रकार से हानि पहुँचा देते हैं। दीक्षा के पूर्व जब तीर्थंकर भगवान वर्षीदान देते हैं, तब यह देव ही उनके भंडार भरते हैं। इनके 10 भेद इस प्रकार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. अन्न जृम्भक :- भोजन के परिमाण को बढा देना, घटा देना, सरस कर देना, नीरस कर देना आदि की शक्ति रखने वाले देव।

2. पाण जृम्भक :- पानी के परिमाण को घटा देने वाले या बढा देने वाले देव।

3. वस्त्र जृम्भक :- वस्त्र के परिमाण को घटाने और बढाने की शक्ति रखने वाले देव।

4. लयण जृम्भक:- घर मकान आदि की रक्षा करने वाले देव।

5. शयन जृम्भक :- शय्या आदि की रक्षा करने वाले देव।

6. पुष्प जृम्भक :- फुलों की रक्षा करने वाले देव।

7. फल जृम्भक :- फलों की रक्षा करने वाले देव।

8. पुष्पफल जृम्भक :- फुलों और फलों की रक्षा करने वाले देव।

9. विद्या जृम्भक :- विद्याओं की रक्षा करने वाले देव।

10. अव्यक्त जृम्भक :- सामान्य रुप में सब पदार्थों की रक्षा करनेवाले देव

3. ज्योतिषी देव - इनके पाँच भेद है - 1. चन्द्र 2. सूर्य 3. ग्रह 4. नक्षत्र और 5. तारा। इनके विमान सदा ज्योतिमान (प्रकाशमान) रहने से इनको ज्योतिषी कहते हैं। मेरू पर्वत से 790 योजन ऊपर और 900 योजन तक के आकाश (अंतरिक्ष) में ये देव मेरु पर्वत के चारों तरफ परिभ्रमण करते रहते हैं। अढ़ाई द्वीप में ये देव मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इसलिए चर कहलाते हैं। इनके भ्रमण के कारण ही दिन-रात, घड़ी, मुहूर्त, मास, वर्ष आदि होते हैं। अढ़ाई द्वीप के बाहर क्षेत्र में ये सदा स्थिर रहते हैं। इसलिए जहाँ दिन है, वहाँ सदा दिन ही रहता है। जहाँ रात है, वहाँ सदा रात रहती है। इस प्रकार पाँच ज्योतिषी देवों के अस्थिर तथा स्थिर यह 10 भेद हो जाते हैं।

4. वैमानिक देव - ऊर्ध्वलोक में जो देव विमानों में निवास करते हैं वे वैमानिक देव कहलाते हैं। उनके भेद इस प्रकार है। 1. बारह कल्पोपत्र देव (जहाँ कल्प, आचार मर्यादा हो) 2. कल्पातीत देव(जहां कल्प का व्यवहार न हो) - यह भी दो प्रकार के होते हैं (क) नव ग्रैवेयक देव (ख) पाँच अनुत्तर विमान 3. तीन किल्विषिक देव 4. नव लोकांतिक देव।

सौधर्मकल्प आदि 12 कल्प विमान, उनके ऊपर नौ ग्रैवेयक विमान तथा उनसे ऊपर पाँच अनुत्तर विमान है।

पंचम देवलोक के पास त्रसनाड के किनारे पर जो 9 प्रकार के लोकांतिक देव रहते हैं। तीर्थंकर भगवान जब दीक्षा लेने का विचार करते है तब ये देव आकर उनको विनंती करते हैं।

प्रथम, तृतीय तथा छट्ठे देव लोक के नीचे तीन प्रकार के किल्विषिक (सफाई करने वाले) देव रहते हैं।

इस प्रकार 12+9+5+9+3=कुल 38 भेद वैमानिक देवों के है। चारों जाति के कुल 99 भेद होते हैं।

देवों की उत्पत्ति स्थान को उपपात सभा कहते हैं। यहाँ पर फूलों जैसी कोमल शय्या पर देवों की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति के समय प्रत्येक देव अपर्याप्त अवस्था में होता है। उत्पत्ति के 48 मिनट (अन्तर्मुहूर्त) के भीतर वे आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास तथा भाषा - मनःपर्याप्ति पूर्ण कर लेते हैं। तब उनकी पर्याप्ति अवस्था कहलाती है। इस प्रकार 99 अपर्याप्त तथा 99 पर्याप्त कुल 198 भेद देवों के होते हैं।

चार गति के संसारी जीवों के भेद 563

नरक के	14 भेद
तिर्यंच के	48 भेद
मनुष्य के	303 भेद
देव के	198 भेद
कुल	563 भेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन आचार मीमांसा

* मानवजीवन की दुर्लभता
* सप्त व्यसन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानव जीवन की दुर्लभता

श्रमण भगवान महावीर से एक श्रद्धालु ने पूछा मानव अपनी सांसारिक मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए देवताओं को मनाते है, तो क्या देवता बड़े सुखी होते है। उनकी कोई इच्छाएं नहीं होती? भगवान ने कहा यह सत्य नहीं है, देवता भी मानव जीवन पाने के लिए तरसते है, उनके पास एश्वर्य का भंडार है फिर भी उन्हें मानव जीवन की प्यास है। वे देवलोक में रहकर भी यही कामना करते हैं कि 'हम अगले जन्म में मानव जीवन प्राप्त कर, धर्म श्रवण कर संयम में पराक्रम कर आत्म कल्याण करें।'

भगवान ने **"दुल्लहे खलु माणुसे भवे"** अर्थात् मनुष्य भव मिलना दुर्लभ है कहकर मनुष्य जन्म की दुर्लभता बताई है। मानव जीवन की दुर्लभता के 10 दृष्टान्त उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्ययन में मिलते है। जैसे :-

1. चक्रवर्ती के घर पर भोजन का दृष्टान्त
2. पाशक - जुआ खेलने के पासे का दृष्टान्त
3. धान्य - अनाजों का दृष्टान्त
4. धूत का दृष्टान्त
5. रत्नों का दृष्टान्त
6. स्वप्न का दृष्टान्त
7. चक्र का दृष्टान्त
8. कछुए का दृष्टान्त
9. युग (गाड़ी के जुहाड़े) का दृष्टान्त
10. परमाणु स्तम्भ का दृष्टान्त

इनमें से कुछ दृष्टान्तों का उल्लेख यहां किया गया है।

1. परमाणु स्तम्भ का दृष्टान्त

दसवां दृष्टान्त परमाणु स्तम्भ का है, जो इस प्रकार है - किसी एक कौतुकप्रिय देव ने काष्ट-स्तम्भ को चूर्ण कर बहुत बारीक बुरादा बना लिया, फिर उस चूर्ण को एक बड़ी नलिका में भरकर मेरुपर्वत पर चला गया।

वहां मेरुपर्वत पर खड़ा होकर नलिका में खूब जोर से फूंक मारी। तेज पवन के झौंकों के साथ काष्ट स्तम्भ का महीन चूर्ण दशों दिशाओं में दूर तक बिखर गया। आकाश प्रदेश में व्याप्त हो गया। उस चूर्ण में बिखरे अणुओं को पुनः एकत्र करके स्तम्भ बनाना अत्यन्त कठिन है। फिर कोई मनुष्य उन समस्त परमाणुओं को इकट्ठा कर सकता है क्या? कदाचित् देव सहायता से वह ऐसा करने में समर्थ भी हो सकता है, किन्तु व्यर्थ में खोये हुए मनुष्य भव को पुनः प्राप्त करना महान दुर्लभ है।

2. युग का दृष्टान्त

असंख्यात द्वीपों और समुद्रों के बाद असंख्यात योजन विस्तृत एवं हजार योजन गहरे अन्तिम समुद्र स्वयंभूरमण में कोई देव पूर्व दिशा की ओर गाड़ी का एक जुहाडा (युग) डाल दे तथा पश्चिम दिशा की ओर उसकी कीलिका डाले। अब वह कीलिका वहां से बहती-बहती चली आए और बहते हुए इस जुहाड़े से मिल जाए तथा वह कीलिका उस जुहाड़े के छेद में प्रविष्ट हो जाए, यह अत्यंत दुर्लभ है, कदाचित् वह भी हो सकता है, पर मनुष्य भव से च्युत हुए प्रमादी को पुनः मनुष्य भव की प्राप्ति अति दुर्लभ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्ममलिन आत्मा से, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परम आत्मा बनने का एक मात्र अवसर मिलता है - मनुष्य शरीर से। मनुष्य शरीर के अतिरिक्त और किसी भी शरीर से मुक्ति की आराधना एवं प्राप्ति नहीं हो सकती।

मनुष्य शरीर प्राप्त हुए बिना मोक्ष-जन्म मरण से, कर्मों से, रागद्वेषादि से मुक्ति नहीं हो सकती। इसी देह से इतनी उच्च साधना हो सकती है और आत्मा से परमात्मा बना जा सकता है। परन्तु मनुष्य देह को पाने के लिए पहले एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की तथा मनुष्य गति और मनुष्य योनियों के सिवाय अन्य गतियों और योनियों तक की अनेक घाटियां पार करनी पड़ती हैं, बहुत लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। कभी देवलोक, कभी नरक और कभी आसुरी योनि में मनुष्य कई जन्म-मरण करता है। मनुष्य गति में भी कभी अत्यंत भोगासक्त क्षत्रिय बनता है, कभी चाण्डाल और संस्कारहीन जातियों में उत्पन्न हो कर बोध ही नहीं पाता। अतः वह शरीर की भूमिका से ऊपर नहीं उठ पाता। **तिर्यंचगति** में तो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक आध्यात्मिक विकास की प्रथम किरण भी प्राप्त होनी कठिन है। निष्कर्ष यह है कि **देव**, धर्म की पूर्णतया आराधना नहीं कर सकते, **नारक** जीव सतत भीषण दुःखों से प्रताड़ित रहते हैं, अतः उनमें सद्धर्म-विवेक ही जागृत नहीं होता। तिर्यंचगति में पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में कदाचित् क्वचित् पूर्व-जन्म संस्कार प्रेरित धर्माराधना होती है, किन्तु वह अपूर्ण होती है। वह उन्हें मोक्ष की मंजिल तक नहीं पहुंचा सकती। मनुष्य में धर्मविवेक जागृत हो सकता है,कदाचित् पूर्वजन्मों के प्रबल पुनीत संस्कारों एवं कषायों की मन्दता के कारण, प्रकृति की भद्रता से, प्रकृति की विनीतता से, दयालुता-सदय-हृदयता से एवं अमत्सरता-परगुण सहिष्णुता से मनुष्यायु का बन्ध हो कर मनुष्य जन्म प्राप्त होता है।

निर्युक्तिकार मनुष्य भव की दुर्लभता के साथ-साथ निम्न बोलो की दुर्लभता भी बताते है।

1. जीव को **मनुष्य भव** मिलना दुर्लभ है।
2. जीव को **आर्य क्षेत्र** मिलना दुर्लभ है।
3. जीव को **उत्तम जाति-कुल** मिलना दुर्लभ है।
4. जीव को **लम्बा आयुष्य** मिलना दुर्लभ है।
5. जीव को **निरोगी शरीर** मिलना दुर्लभ है।
6. जीव को **पूर्ण इन्द्रिया (सर्वांग परिपूर्णता)** मिलना दुर्लभ है।
7. जीव को **संत-महात्माओं का समागम** मिलना दुर्लभ है।
8. जीव को **जिनवाणी सुनने का अवसर** मिलना दुर्लभ है।
9. जीव को **जिनवाणी पर श्रद्धा** होना दुर्लभ है।
10. जीव को **जिन धर्म में पराक्रम करना (संयम)** अति दुर्लभ है।

यही कारण है कि उत्तराध्ययन सूत्र में प्रभु महावीर फरमाते है -

'चत्तारि परमंगाणि, दुल्लाहाणीह जंतुणो ।

माणुसत्तं सुई श्रद्धा, संजमम्मि य वीरियं ।।' (उत्तरा. 3/1)

अर्थात् जीव को ये चार अंग मिलने अति दुर्लभ हैं - मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा एवं संयम में पराक्रम। इनकी उपलब्धि बहुत ही कठिन साधना से होती है और इनकी उपलब्धि से ही मोक्ष प्राप्ति या परम पद की प्राप्ति संभव है। प्रत्येक प्राणी में इन चारों को प्राप्त करने की शक्ति तो है, परन्तु अज्ञान और मोह का इनता सघन अंधेरा रहता हैं कि जीव इनसे वंचित रहता हैं।परन्तु अधिकांश मनुष्य विषय सुखों की मोहनिद्रा में ऐसे सोये रहते हैं कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे सांसारिक कामभोगों के दलदल में फंस जाते हैं अथवा साधन विहीन व्यक्ति कामभोगों की प्राप्ति की पिपासा में सारी जिंदगी बिता कर इन परम दुर्लभ अंगों को पाने के अवसर खो देते हैं। उनकी पुनःपुनः दीर्घ संसार यात्रा चलती रहती है।

मानव जीवन - एक प्रश्न

प्रातःकाल सूर्य के उदय होते ही जिन्दगी का एक नया दिन शुरू होता है और सूर्यास्त होने तक वह दिन समाप्त हो जाता है। इस तरह प्रतिदिन आयु में से एक-एक दिन घटता जाता है। जन्म लेने के बाद से ही आयु क्षय का यह क्रम प्रारंभ हो जाता है, किन्तु अनेक प्रकार के कार्यभार से बढ़े हुए विभिन्न क्रिया-कलापों में लगे रहने के कारण इस व्यतीत हुए समय का पता नहीं लगता। ऐसे अवसर प्रायः प्रतिदिन आते हैं, जब मनुष्य किसी न किसी जीव का जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, विपत्ति, रोग और शोक के कारुणिक एवं विचारप्रेरक दृश्य देखता है, किन्तु हम कितने मदान्ध, अविवेकी और कामनाओं से ग्रस्त है कि यह सब कुछ आंखों से देखते हुए भी विवेक और विचार की आंखों से अंधे ही बने हुए है। मोह और सांसारिक प्रमाद में लिप्त मनुष्य घड़ी भर एकान्त में बैठकर इतना भी नहीं सोचता कि इस कौतूहलपूर्ण नरतनु में जन्म लेने का उद्देश्य क्या है? हम कौन है? कहां से आए हैं? और कहा जाना है? किस दिशा में गति कर रहे हैं? श्रीमद् राजचंदजी के शब्दों में कहा जाए तो -

हूं कोण छूं क्यां थी थयो ? शुं स्वरूप छे मारुं खरूं?

कोना सम्बन्धे वलगणा छे, राखुं के ए परिहरूं ?

मानव के सामने जीवन के ये प्रश्न चिन्ह हैं- मैं कौन हूं, कहां से मैं मानव हुआ? मेरा असली स्वरूप क्या है? मेरा संबंध किसके साथ है? इस संबंध को मुझे रखना है या छोड़ना है?

मानवजीवन - परीक्षा के लिए

चौरासी लाख जीव-योनियों मे परिभ्रमण करने के बाद मनुष्य को अतिदुर्लभ मानव-जीवन मिला है। यह अवसर उसे अपनी जीवन यात्रा की परीक्षा देने के लिए मिला है। विद्यार्थी को सालभर पढ़ाई करने के बाद उसकी परीक्षा देनी पड़ती है और यह सिद्ध करना पड़ता है कि उसने पढ़ाई में पूरा श्रम किया है। यह प्रमाणित कर देने पर उसे उत्तीर्ण होने का सम्मान मिलता है और उसका लाभ भी। किन्तु जो छात्र परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है, उसके बारे में यही माना जाता है कि उसने पर्याप्त श्रम नहीं किया और दण्डस्वरूप उसे एक वर्ष तक पुनः वह उसी कक्षा में रह जाता है।

चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करके जीव को अपने को सुधारने और सन्मार्गगामी बनने की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। वह पढ़ाई पूरी होने पर उसे मनुष्य जीवन का एक अलभ्य अवसर परिक्षाकाल जैसा मिलता है। इसमें मनुष्य को यह सिद्ध करना पड़ता है कि उसने कितनी आत्मिक प्रगति की, अपने को कितना सुधारा, अपना दृष्टिकोण कितना परिमार्जित किया और उच्चभूमिका की ओर अथवा लक्ष्य की ओर कितना प्रयाण किया? मानव जीवन का प्रत्येक दिन मनुष्य के लिए एक-एक प्रश्न पत्र है।

प्रतिदिन के प्रश्न पत्र में कई प्रश्न मानव छात्र के सामने आते हैं। जैसे उसने इस दुर्लभ मनुष्य भव को पाकर उसका कितना उपयोग किया? उसकी आत्मा को दूरगति में गिरते हुए को ऊपर उठाने के लिए कितना पुरुषार्थ किया? इत्यादि।

इसके उपरान्त भी जो-जो समस्याऐं सामने आती है, वे भी एक-एक प्रश्न हैं। इन प्रश्नों को किस दृष्टिकोण से हल किया जा रहा है, महापुरुष या धर्मवीर उसे बहुत ही बारीकी से जांचते हैं। यदि आपका दृष्टिकोण पशुओं जैसा ही स्वार्थपरता और तृष्णा, वासना, कामना, की क्षुद्रता से परिपूर्ण रहा, तब तो आपको फिर चौरासी लाख योनियों की कक्षाओं में ही पड़े रहना होगा। यदि जीवनचर्या आदर्श रही और आचार-विचार की दृष्टि से अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्कर्षता सिद्ध हुई या जिस कक्षा में बैठे थे, उस कक्षा में पाठ्यक्रम के अनुसार उत्तर ठीक हुए तो पूर्णता और परमानंद का प्रमाणपत्र परीक्षा में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुए छात्र की तरह मनुष्य को भी मिलता है। आए दिन की छोटी-मोटी असुविधाओं को तुच्छ, नगण्य एवं महत्वहीन समझना चाहिए। उनमें उलझ जाएंगे और उन्हें अत्यधिक महत्त्व दे देंगे तो जीवन का मूल दृष्टि से ओझल हो जाएगा। आप मानव जीवन की इस परीक्षा में सफल नहीं हो सकेंगे।

कैसे हो जीवन में धर्म का आचरण?

सबसे पहले उदार बनें, साहस पैदा करें और आध्यात्मिक जीवन की कठिनाइयों का सामना करने के लिए तत्पर हो जायें, फिर देखें कि महानता की जिस उपलब्धि के लिये आप निरन्तर लालायित रहते है, वह सच्चे मायने में प्राप्त होती है या नहीं? आत्मा में अनंत शक्ति छिपी है, उसे धर्मपालन द्वारा जागृत करना है। शक्ति को साधना से जगाना ही मानव जीवन की सार्थकता है।

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को अपने जीवन की सार्थकता एवं अन्तिम परीक्षा के लिए अपना जीवन धर्मयुक्त बिताना आवश्यक है। प्रश्न होता है कि धर्म में तो अनेक सद्गुणों का महापूंज है, महासागर है, इसका विवधि सद्गुणों के रूप में पालन कैसे हो सकेगा? मनुष्य को धर्म की मर्यादा में कौन चला सकेगा? कौन उसे नियंत्रण में रख सकेगा? चूंकि धर्म तो अपने आप में एक भाव है, जो मनुष्य को अमुक-अमुक सीमा में रहने या आत्मा को रखने की बात बताता है कि लेकिन उक्त धर्म के अनुसार चलाने वाला कौन है? धर्म तो एक प्रकार का आध्यात्मिक कानून है, आचार संहिता (Code of Conduct) है, उसका पालन कराने वाला कौन है?

जैसे सरकारी कानून को सरकार दण्डशक्ति द्वारा पालन करवाती है, फिर भी कई लोग उसमें गड़बड़ कर डालते हैं। इसीलिए धर्म का स्थान सरकारी कानून से ऊंचा है। उसका पालन अगर किया जा सकता है तो व्रतों के माध्यम से ही। मनुष्य जब स्वेच्छा से व्रत ग्रहण करता है, तभी वह अपने जीवन में धर्माचरण यथेष्ट रूप से कर सकता है, धर्म-मर्यादा में चल कर अपने और दूसरों के जीवन को सुखी और आश्वस्त बना सकता है।

धर्म मर्यादाओं को समझने के पूर्व, स्वयं की पहचान करनी है कि जिन शासन का कौनसा अंग बनकर वह अपने जीवन को साकार बनाएगा।

जिनशासन के स्तम्भ :-

जैन परम्परा में तीर्थंकर धर्मतीर्थ की स्थापना करते है। धर्म तीर्थ के लिए संघ, जिनशासन आदि शब्दों का प्रयोग होता है। संघ के चार अंग होते है। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका। यह विभाजन व्रत के आधार पर किया गया है। इन व्रतों का विभाजन करते हुए वीतरागी प्रभु ने आत्म कल्याण के लिए दो प्रकार का धर्म फरमाया है -

''धम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहां - सागार धम्मे चेव, अणगार धम्मे चेव''

एक है सागार धर्म, दूसरा अणगार धर्म।

भगवान ने अणगार धर्म व सागार धर्म की अलग-अलग व्यवस्थाएं स्थापित की। उन्होंने धर्म का मूल आधार सम्यक्तव एवं अहिंसा को बताया और उसी की पुष्टि के लिए पांच व्रत - अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की प्ररूपणा की। इन व्रतों को पूर्णतः पालन करने वाले को साधु-साध्वी तथा इन व्रतों का स्थूल रूप(आंशिक रूप) से पालन करने वाले को श्रावक-श्राविका की उपाधि से विभूषित किया। साधु-साध्वी के लिए उपरोक्त पांच व्रत महाव्रत कहलाते है व श्रावक श्राविका के लिए अणुव्रत कहलाते है। साधु-साध्वी महाव्रत का पालन करते है। श्रावक-श्राविका महाव्रतों का पालन करने में असमर्थ होते है। अतः उनकी शक्ति अनुसार वे अणुव्रतों का पालन करते है।

अगार धर्म को श्रावक धर्म भी कहा जाता है। श्रावक धर्म को जीवन में उतारने से हम गृहस्थ अवस्था में रहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए भी मर्यादित आदर्श जीवन जी सकते है। श्रावक के घर में जन्म लेने मात्र से श्रावक नहीं बनता, पर व्रत ग्रहण करने वाले ही श्रावक कहलाता है। यह एक ऐसा गुण है जो जन्मजात प्राप्त नहीं होता, अर्जित करना पड़ता है। आत्मिक उन्नति चाहने वाले प्रत्येक गृहस्थ साधक का कर्तव्य है कि वह समझ बूझ कर श्रावक-धर्म को धारण करे, अव्रती से व्रती बने एवं यथा संभव आस्रवों/प्रवृत्तियों से बचने की कोशिश करें।

श्रावक कौन ?

जो धर्म सुनता है, वह श्रावक-**धर्म श्रृणोतीति श्रावकः**।

जो श्रद्धाशील होता है, वह श्रावक - **श्रद्धां करोतीति श्रावकः**।

जो धर्म और पुण्य कर्म करता है - **पुण्यं श्रवतीति श्रावकः**।

श्रृणोति जिनवचनमिति श्रावकः - जो जिनेश्वर भगवंतों की वाणी जिनवाणी श्रद्धा से सुने वह श्रावक है। अथवा जिसने तत्वार्थ श्रद्धा आत्मसात कर ली, जिसकी जीवादि तत्त्वों पर अडिग श्रद्धा है वह श्रावक हैं। श्री उमास्वामी ने "**श्रावक-प्रज्ञप्ति**" में श्रावक का स्वरूप बताते हुए कहा है - सम्यग्दर्शन एवं अणुव्रतादि ग्रहण कर जो प्रतिदिन साधुओं से प्रधान समाचार-साधु श्रावक का आचार सुने उसे भगवान ने श्रावक कहा है।

अर्थात जो दृढ श्रद्धा को धारण करने वाला हो, जिनवाणी श्रद्धा पूर्वक सुनने वाला हो, देशव्रती हो, प्राप्त धन को सत्कार्यो में व्यय करने वाला हो और पापों का छेदन करने वाला हो, वह श्रावक कहलाता है। एक आचार्य ने श्रावक के तीन शब्दों का अलग अलग अर्थ करके कहा है।

श्रा - यानी श्रद्धावान

व - यानी विवेकवान

क - यानी क्रियावान

श्रावक श्रद्धापूर्वक आंशिक रूप से सावद्य (पाप) योगों का त्याग कर क्रियावान रहता हुआ विवेक पूर्वकजीवन यापन करता है। और आत्म साधना में भी तत्पर रहता है।

आगमों में श्रावक का ही दूसरा नाम श्रमणोपासक भी मिलता है। **श्रमणानुपास्ते सेवत इति श्रमणोपासकः** - श्रमणों की उपासना सेवा करने वाला श्रमणोपासक होता है। श्रमणोपासक आत्म लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निर्ग्रंथ श्रमणों द्वारा धर्ममार्ग का ज्ञान प्राप्त कर उस पर अग्रसर होने का प्रयत्न करता है।

अन्तिम समय में क्या करोगे?

अथाह संसार सागर के प्रवाह में प्रवाहित मनुष्य संसार के सुखों को, इन्द्रियों के भोगों को, पदार्थों के स्वामित्व को, धन, पुत्र तथा विविध कामनाओं और एषणाओं को ही जीवन का लक्ष्य बनाकर इस बहुमूल्य अवसर को खो देता है। अन्ततः परीक्षा की घड़ी की तरह काल की घड़ी जब आती है, तो विदा होते समय सिर पर पापों, दुष्कर्मों एवं दुराचरणों का भारी भरकम भयंकर बोझ लदा दिखाई देता है, तब मन में भारी पश्चाताप्, घोर संताप और अशान्ति होती है, पर अब क्या हो सकता है, जब चिड़िया चुग गई खेत! सौदा बिक गया, अब कीमत लगाने से क्या फायदा?

इसीलिए भगवान महावीर ने मनुष्यों को सावधान करते हुए कहा -

जरा जाव न पीडेई, वाही जाव न वड्ढई।

जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ।।

जब तक बुढ़ापा आकर पीड़ित नहीं कर लेता, जब तक शरीर में किसी प्रकार की व्याधि नहीं बढ़े, और जब तक इन्द्रियां क्षीण न हों, तब तक धर्माचरण कर लो। ये तीनों आ जाएंगे तो फिर धर्माचरण होना कठिन है।

अन्तिम समय में विशाल वैभव, अपार धनधान्य राशि अथवा पुत्रकलत्रादि कोई भी साथ नहीं देता। यह सारा संसार, यहां की परिस्थितियां ज्यों की त्यों दिखाई देती हैं, मगर उस समय वे सब उपयोग से बाहर होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपना शरीर भी उस समय सहायक नहीं होता। केवल अपने अच्छे-बुरे संस्कारों (पुण्य-पापकर्मों) का बोझ लादे हुए जीव परवश यहां से उठ जाता है। एकमात्र धर्म ही मनुष्य का साथी बनता है, अन्तिम समय में। अगर अपने जीवन में धर्माचरण किया हो तो उसके कारण अन्तिम समय में मनुष्य प्रसन्नता से संतुष्ट होकर इस संसार से विदा होता है।

सर्वप्रथम श्रावक अपने जीवन को सरल एवं सुशील बनाता है। स्वयं के अंदर विद्यमान कुटेवो को दूर करने का प्रयास करता है, और यदि विद्यमान न हो तो उसके जीवन को हमेशा उन कुटेवो से बचाने को तत्पर रहता है। इसी कुटेवो की कड़ी में गिने जाते है - 'व्यसन।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्त व्यसन

व्यसन की परिभाषा

व्यसन शब्द संस्कृत भाषा का है जिसका तात्पर्य है 'कष्ट' । यहां हेतु में परिणाम का उपचार किया गया है। जिन प्रवृत्तियों का परिणाम कष्टकर हो, उन प्रवृत्तियों को व्यसन कहा गया है। व्यसन एक ऐसी आदत है जिसके बिना व्यक्ति रह नहीं सकता। व्यसनों की प्रवृत्ति अचानक नहीं होती। पहले व्यक्ति आकर्षण से करता है फिर उसे करने का मन होता है। एक ही कार्य को अनेक बार दोहराने पर वह व्यसन बन जाता है।

अर्थ

जिन, बुरी आदतों के कारण मनुष्य का पतन होता है, सदाचार एवं धर्म से विमुख बनता है, जिनके कारण मनुष्य का विश्वास नष्ट होता है, जो सज्जनों के लिए त्याग करने योग्य है, और जिन दुराचारों से मनुष्य जन्म बिगड़ कर नरकादि दुर्गति का पात्र बनता है, उन कुटेवों को व्यसन कहते है।

मानव में ज्यों-ज्यों व्यसनों की अभिवृद्धि होती है, त्यों-त्यों उसमें सात्विकता नष्ट होने लगती है।

नदी में तेज बाढ आने से उसकी तेज धारा से किनारे नष्ट हो जाते है, वैसे ही व्यसन जीवन के तटों को काट देते हैं। व्यसनी व्यक्तियों का जीवन नीरस हो जाता है, पारिवारिक जीवन संघर्षमय हो जाता है और सामाजिक जीवन में उसकी प्रतिष्ठा धूमिल हो जाती है।

धूतं च मासं च सुरा च वेश्या पापर्द्धि चौयं परदार सेवा;
एतानि सप्तव्यसनानिलोके घोरातिघोर नरकं नयन्ति।।

अर्थात जुआ, मांस, शराब, वेश्यागमन, चोरी, परस्त्री गमन एवं शिकार खेलना आदि व्यसनों से ग्रसित व्यक्ति नरक का पात्र होता है। प्रत्येक व्यक्ति को इन सात व्यसनों का त्याग अवश्य करना चाहिए, इससे जीवन निर्मल और पवित्र बनता है, जीवन में सर्वांगीण विकास की संभावना बनती है तथा व्यक्ति अनेक खतरों से बच जाता है।

1. जुआ

शर्त लगाकर जो खेल खेला जाता है उसे **जुआ** कहते है।

बिना परिश्रम के विराट सम्पत्ति प्राप्त करने की तीव्र इच्छा ने जुआ को जन्म दिया। जुआ एक ऐसा आकर्षण है जो भूत की तरह मानव के सत्त्व को चूस लेता है। जिसको यह लत लग जाती है वह मृग-मरीचिका की तरह धन-प्राप्ति की अभिलाषा से अधिक से अधिक बाजी पर लगाता चला जाता है और जब धन नष्ट हो जाता है तो वह चिंता के सागर में डुबकियाँ लगाने लगता है।

एक आचार्य ने ठीक ही कहा है जहां पर आग की ज्वालाएं धधक रही हों वहां पर पेड़-पौधे सुरक्षित नहीं रह सकते, वैसे ही जिसके अन्तर्मानस में जुए की प्रवृत्ति पनप रही हो, उसके पास लक्ष्मी रह नहीं सकती। एक पाश्चात्य चिन्तक ने भी लिखा है - जुआ लोभ का बच्चा है पर फिजूलखर्ची का माता-पिता है।

अतीतकाल में जुआ चौपड, पासा या शतरंज के रूप में खेला जाता था। महाभारतकाल में चौपड का अधिक प्रचलन था तो मुगलकाल में शतरंज का। अंग्रेजी शासनकाल मे ताश के रूप में और उसके पश्चात सट्टा, लाटरी आदि विविध रूपों में जुए का प्रचलन प्रारंभ हुआ। रेस आदि का व्यसन भी जुआ ही है। इन सब के दुष्परिणामों से आप परिचित ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः श्रम के बिना जो धन प्राप्त होता है वह बरसाती नदी की तरह आता है और वह नदी के मूल पानी को भी ले जाता है।

2. मांसाहार

त्रस जीवों को वध करके भोजन के रूप में उपयोग करना **मांस भक्षण** है।

यह निर्दयता व क्रूरता की सबसे बड़ी निशानी है। मांस, मछली, अण्डे आदि मांसाहारी पदार्थों का सेवन करना 'मांस भक्षण' है। मनुष्य जीभ के स्वाद के लिए बेचारे मूक व निरपराधी प्राणियों की हत्या करके मांस का सेवन करता है।

सभी धर्म-प्रवर्तकों ने नैतिक दृष्टि से मांसाहार को निन्दनीय और हिंसाजनक माना है। मांसाहार करने वाले को जघन्य दृष्टि से देखा जाता है। सामाजिक, नैतिक, धार्मिक व स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मांसाहार हानिप्रद है। आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, आर्थिक दृष्टि से भी मांसाहार अनुपयुक्त है। मांसाहार घोर तामसिक आहार है जो जीवन में अनेक विकृतियां पैदा करता है।

अतः मनुष्य की स्वाद लोलुपता के अतिरिक्त और कोई तर्क ऐसा नहीं है जो मांसाहार का समर्थक हो सके। शक्तिदायक आहार के रूप में मांसाहार के समर्थन का एक खोखला दावा है। यह सिद्ध हो चुका है कि मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी अधिक शक्ति संपन्न होते है और उनमें अधिक काम करने की क्षमता होती है। शेर आदि मांसाहारी प्राणी शाकाहारी प्राणियों पर जो विजय प्राप्त कर लेते है उसका कारण उनकी शक्ति नहीं, बल्कि उनके नख, दांत आदि क्रूर शारीरिक अंग ही है।

मांसभक्षी पशुओं के शरीर की रचना और मानव-शरीर की रचना बिल्कुल भिन्न है। आधुनिक शरीरशास्त्रियों का भी स्पष्ट अभिमत है कि मानव का शरीर मांसभक्षण के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। मानव में जो मांस खाने की प्रवृत्ति है, वह उसका नैसर्गिक (Natural)रूप नहीं है, किन्तु विकृत रूप है। यह बात अनेक वैज्ञानिक अनुसंधानों से प्रमाणित हो चुका है।

(मिर्गी) ऐपीलैपसी (Epilpsy):- यह इन्फैक्टेड मांस व बगैर धुली सब्जियां खाने से होता है;

आंतों का अलसर, अपैन्डिसाइटिस, आंतों और मल द्वार का कैंसर :- ये रोग शाकाहारियों की अपेक्षा मांसाहारियों से अधिक पाए जाते है।

गुर्दे की बीमारियाँ (Kidney Disease):- अधिक प्रोटीन युक्त भोजन गुर्दे खराब करता है। शाकाहारी भोजन फैलावदार होने से पेट जल्दी भरता है अतः उससे मनुष्य आवश्यकता से अधिक प्रोटीन नहीं ले पाता जबकि मांसाहार से आसानी से आवश्यकता से अधिक प्रोटीन खाया जाता है।

संधिवात रोग, गठिया और वायु रोग (Rheumatoid arthritis, gout and other type of astheritisis):- मांसाहार खून में यूरिक ऐसिड की मात्रा बढ़ाता है जिसके जोडों पर जमाव हो जाने से ये रोग उत्पन्न होते है। यह देखा गया है कि मांस, अंडा, चाय, काफी इत्यादि छोडने पर इस प्रकार के रोगियों को लाभ पहुंचा। इसलिए मांसाहार की परिगणना व्यसनों में की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. मद्यपान (शराब)

जितने भी पेय पदार्थ जिनमें मादकता है, विवेक-बुद्धि को नष्ट करने वाले हैं या विवेक-बुद्धि पर पर्दा डाल देते हैं वे सभी **'मद्य'** के अन्तर्गत आ जाते हैं। मदिरा एक प्रकार से नशा लाती है। इसलिए भाँग, गाँजा, चरस, अफीम, सिगरेट, बीड़ी, तम्बाकू, विस्की, ब्रांडी, शेम्पेइन, बियर देशी और विदेशी मद्य हैं, वे सभी मदिरापान में ही आते हैं। मदिरापान ऐसा तीक्ष्ण तीर है कि जिस किसी को लग जाता है उसका वह सर्वस्व नष्ट कर देता है। मदिरा की एक-एक बूंद जहर की बूंद के सदृश्य है। मानव प्रारंभ में चिंता को कम करने के लिए मदिरापान करता है पर धीरे-धीरे वह स्वयं ही समाप्त हो जाता है। शराब का शौक बिजली का शॉक है। जिसे तन से, धन से और जीवन के आनंद से बर्बाद होना हो उसके लिए मदिरा की एक बोतल ही पर्याप्त है। मदिरा की प्रथम घूंट मानव को मूर्ख बनाता है, द्वितीय घूँट पागल बनाता है, तृतीय घूँट से वह दानव की तरह कार्य करने लगता है और चौथे घूंट से वह मुर्दे की तरह भूमि पर लुढ़क पड़ता है।

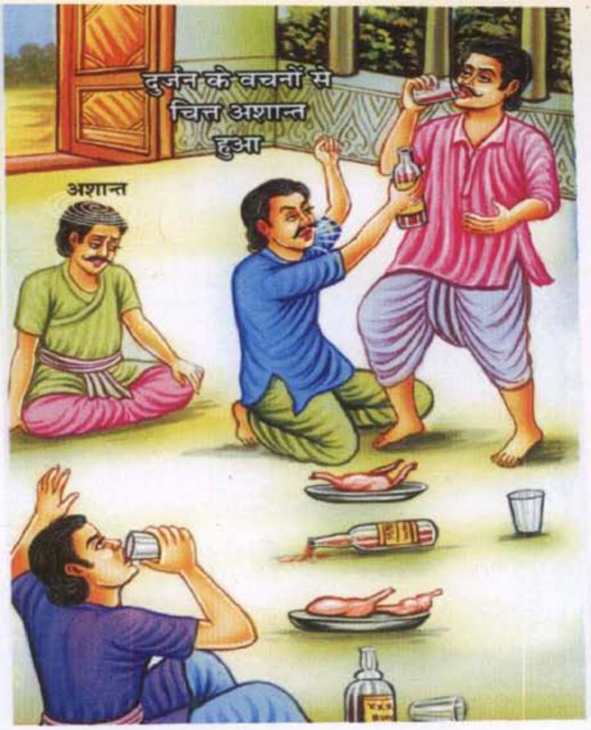

एक पाश्चात्य चिंतक ने मदिरालय की तुलना दिवालिया बैंक से की है। मदिरालय एक ऐसे दिवालिया बैंक के सदृश है जहां तुम अपना धन जमा करा देते हो और खो देते हो। तुम्हारा समय, तुम्हारा चरित्र भी नष्ट हो जाता है। तुम्हारी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। तुम्हारे घर का आनंद समाप्त हो जाता है। साथ ही अपनी आत्मा का भी सर्वनाश कर देते हो।

मदिरा पोषक नहीं, शोषक

शरीर को टिकाने के लिए आहार की आवश्यकता है। किंतु मदिरा में ऐसा कोई पोषक तत्त्व नहीं है जो शरीर के लिए आवश्यक है। अपितु उसमें सड़ाने से ऐसे जहरीले तत्त्व प्रविष्ट हो जाते हैं जिनसे शरीर पर घातक प्रभाव पड़ता हैं। मदिरा में एल्कोहल होता हैं वह इतना तेज होता है कि सौ बूंद पानी में एक बूंद एल्कोहल मिला हो और उसमें एक छोटा-सा कीड़ा गिर जाए तो शीघ्र ही मर जाता है।

मदिरा के नशे में व्यक्ति की दशा पागल व्यक्ति की तरह होती है। वह पागल की तरह हंसता है, गाता है, बोलता है, नाचता है, घूमता है, दौड़ता है और मूर्च्छित हो जाता है। कभी वह विलाप करता है, कभी रोता है, कभी, अस्पष्ट गुनगुनाने लगता है, कभी चीखता है, कभी मस्तक धुनने लगता है। इस तरह शताधिक क्रियाएं वह पागलों की तरह करने लगता है। इसलिए कहा है - मद्यपान से मानवों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। एक पाश्चात्य चिन्तक ने भी लिखा है - जब मानव में मद्यपान का व्यसन प्रविष्ट होता है तो उसकी बुद्धि उससे विदा ले लेती है। **(When drink enters, wisdom departs.)**

मदिरा के दोष

आचार्य हरिभद्र ने मद्यपान करने वाले व्यक्ति से सोलह दोषों का उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं - (1) शरीर विद्रूप होना (2) शरीर विविध रोगों का आश्रयस्थल होना (3) परिवार से तिरस्कृत होना (4) समय पर कार्य करने की क्षमता न रहना (5) अन्तर्मानस में द्वेष पैदा होना (6) ज्ञानतंतुओं का धुंधला हो जाना (7)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मृति का लोप हो जाना (8) बुद्धि भ्रष्ट होना (9) सज्जनों से संपर्क समाप्त हो जाना (10) वाणी में कठोरता आना (11) नीचे कुलोत्पन्न व्यक्तियों से संपर्क (12) कुलहीनता (13) शक्ति ह्रास (14) धर्म (15) अर्थ (16) काम-तीनों का नाश होना।

जिन घरों में मदिरा ने प्रवेश कर दिया वे घर कभी भी आबाद नहीं हो सकते, वे तो बर्बाद ही होंगे। मदिरा मानवता की जड़ों को जर्जरित कर देती है। मदिरा पीने वाले के पास बिना निमंत्रण के भी हजारों दुर्गुण स्वतः ही चले जाते है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है - आग की नन्हीं-सी चिनगारी विराटकाय घास के ढेर को नष्ट कर देती है वैसे ही मदिरापान से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, क्षमा आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।

4. वेश्यागमन

मदिरापान की तरह वेश्यागमन को भी विश्व के चिंतकों ने सर्वथा अनुचित माना है क्योंकि वेश्यागमन

ऐसा व्यसन है जो जीवन को कुपथ की ओर अग्रसर करता है। वह उस जहरीले सांप की तरह है जो चमकीला, लुभावना और आकर्षक है किंतु बहुत ही खतरनाक है। वैसे ही वेश्या अपने श्रृंगार से, हावभाव और कटाक्ष से जनता को आकर्षित करती है। जिस प्रकार मछली को पकड़ने वाले कांटे से जरा-सा मधुर आटा लगा रहता है जिससे मछलियाँ उसमें फंस जाती हैं। चिडियों को फंसाने के लिए बहेलिया जाल के आसपास अनाज के दाने बिखेर देता है, दानों के लोभ से पक्षीगण आते हैं और जाल में फंस जाते हैं, वैसे ही वेश्या मोहजाल में फंसाने के लिए अपने अंगोपांग का प्रदर्शन करती है, कपट अभिनय करती है जिससे वेश्यागामी समझता है कि यह मेरे पर न्यौछावर हो रही है, और वह अपना यौवन, बल, स्वास्थ्य धन सभी उस नकली सौंदर्य की अग्नि ज्वाला में होम कर देता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी की गौरव गरिमा का चित्रण करते हुए कहा गया है - वह सम्रुद के समान गंभीर है, पानी के समान मिलनसार है, गाय के समान वात्सल्य की मूर्ति है, वह महान् उदार, स्नेह सद्भावना और सेवा की साक्षात प्रतिमा है। वह सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा-तीनों के सद्गुणों से समलंकृत है। लज्जा नारी का आभूषण है। शील सौंदर्य है। पर वेश्या में नारी होने पर भी इन सभी सद्गुणों का अभाव है। वेश्या इस सौंदर्य और आभूषण से रहित होने के कारण कुरूप है। वेश्याओं से स्नेह की इच्छा करना बालू से तेल निकालने के समान है।

आज के युग में उन्हें वेश्या न कहकर 'कालगर्ल' (Callgirl) कहा जाता है। अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनकर अच्छे घरों में रहकर ये धंधा करती है। अतः उनसे बचना चाहिये, वरना हम दुर्गति के भव भ्रमण को बढाने के साथ ही अनेक घातक बीमारियों के शिकार बन सकते हैं। एड्स के खतरे की तलवार सिर पर लटकी रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. चोरी

चोरी का वास्तविक अर्थ है जिस वस्तु पर अपना अधिकार न हो उसके मालिक की अनुज्ञा, अनुमति के बिना उस पर अधिकार कर लेना, उसे अपने काम में लेना, उससे लाभ उठाना **अदत्तादान (चोरी)** है माल के मालिक के अधिकार के बिना कोई वस्तु लेना चोरी है।

चोरी के प्रकार

प्रश्नव्याकरण सूत्र में चोरी के तीस नाम बताकर कहा कि चोरी का कार्य अपकीर्ति को करने वाला अनार्य कर्म है, वह प्रियजनों में भेद उत्पन्न करने वाला है। चोरी विविध रूप से की जाती है। मालिक की अनुपस्थिति में, उसकी उपस्थिति में भी, असावधानी से उसकी वस्तु को ग्रहण करना, सेंध लगाकर, जेब काटकर, ताला या गठरी खोलकर अथवा पड़ा हुआ, भूला हुआ, खोया हुआ, चुराया हुआ, कहीं पर रखा हुआ दूसरे के धन पर अधिकार करना चोरी है।

एक चिन्तक ने चोरी के छह प्रकार बताए हैं :- (1) छन्न चोरी (2) नजर चोरी (3) ठगी चोरी (4) उद्घाटक चोरी (5) बलात् चोरी (6) घातक चोरी।

1. **छन्न चोरी** :- छिपकर या गुप्त रूप से मालिक की दृष्टि चुराकर वस्तु का लेना छन्न चोरी है।
2. **नजर चोरी** :- देखते ही देखते वस्तु को चुरा लेना जैसे - दर्जी, सुनार आदि नजर चोरी करते है।
3. **ठगी चोरी** :- किसी को कपट से धोखा देकर ठगना, मिथ्या विज्ञापन देकर लोगों से पैसा ले लेना ठगी चोरी है।
4. **उद्घाटक चोरी** :- गांठ, ताला, कपाट, तिजोरी आदि का द्वार खोलकर चुपके से सामान लेकर भाग जाना उद्घाटक चोरी है।
5. **बलात् चोरी** :- रास्ते में चलते यात्री की सम्पत्ति को भय दिखाकर लूट लेना बलात् चोरी है।
6. **घातक चोरी** :- हमला करके या मानवों को घायल करके किसी के घर, दुकान आदि में घुस जाना और सब कुछ लेकर भाग जाना घातक चोरी है।

6. परस्त्रीगमन

अपनी स्त्री को छोडकर दूसरी स्त्रियों के पास जाना, विषयों का सेवन करना **परस्त्रीगमन** है।

गृहस्थ के लिए विधान है कि वह अपनी विधिवत् विवाहित पत्नी में संतोष करके शेष सभी परस्त्री आदि के साथ मैथुन विधि का परित्याग करें। विराट रूप में फैली हुई वासनाओं को जिसके साथ विधिपूर्वक पाणिग्रहण हुआ है उसमें वह केन्द्रित करे। इस प्रकार असीम वासना को प्रस्तुत व्रत के द्वारा अत्यंत सीमित करें।

परस्त्री से तात्पर्य अपनी धर्मपत्नि के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों से है। चाहे थोड़े समय के लिए किसी को रखा जाए या उपपत्नि के रूप में, किसी परित्यक्ता, व्यभिचारिणी, वेश्या, दासी या किसी की पत्नि अथवा कन्या - ये सभी स्त्रियां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परस्त्रियां हैं। उनके साथ उपभोग करना अथवा वासना की दृष्टि से देखना, क्रीड़ा करना, प्रेम पत्र लिखना या अपने चंगुल में फंसाने के लिए विभिन्न प्रकार के उपहार देना, उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास करना, उसकी इच्छा के विपरीत काम-क्रीड़ा करना, वह बलात्कार है और उसकी इच्छा से करना परस्त्री सेवन है।

समाजशास्त्रियों ने परस्त्रीगमन के मुख्य कारण बताए हैं - (1) क्षणिक आवेश (2) अज्ञानता (3) बुरी संगति (4) पति के परस्त्रीगमन को देखकर उसकी पत्नी भी पथ-भ्रष्ट होती है (5) विकृत साहित्य-पठन (6) धन मद के कारण (7) धार्मिक अंध-विश्वास (8) सहशिक्षा (9) अश्लील चलचित्र (10) अनमेल विवाह (11) नशीले पदार्थ सेवन।

7. शिकार

अपनी प्रसन्नता के लिए किसी भी जीवों को दुःखी करना **शिकार** है। शिकार मानव के जंगलीपन की निशानी है। शिकार मनोरंजन का साधन नहीं अपितु मानव की क्रूरता और अज्ञता का विज्ञापन है। क्या संसार में सभ्य मनोरंजनों की कमी है जो शिकार जैसे निकृष्टतम मनोरंजन का मानव सहारा लेता है। शिकार करना वीरता का नहीं, अपितु कायरता और क्रूरता का द्योतक है। शिकारी अपने आप को छिपाकर पशुओं पर शस्त्र और अस्त्र का प्रयोग करता है। यदि पशु उस पर झपट पड़े तो शिकारी की एक क्षण में दुर्दशा हो जायेगी। वीर वह है जो दूसरों को जख्मी नहीं करता। दूसरों को मारना, उनके जीवन के साथ खिलवाड़ करना यह तो हृदयहीनता की निशानी है। भोले-भोले निर्दोष पशुओं के साथ क्रूरतापूर्वक व्यवहार करना मानवता नहीं दानवता है।

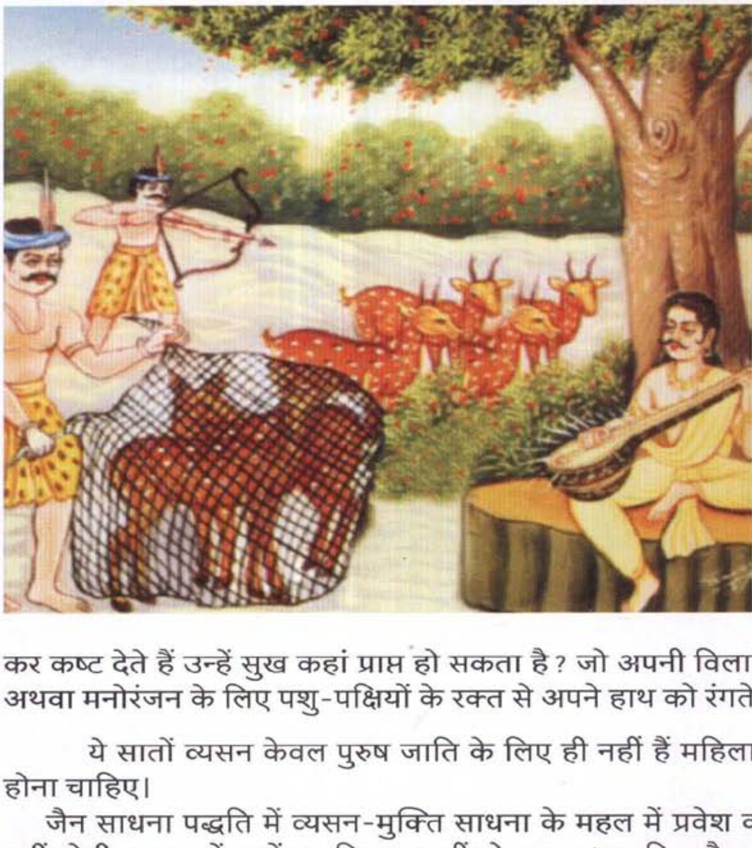

व्यक्ति अनेक कारणों से शिकार करता हैं जैसे :- 1. मनोविनोद के लिए 2. साहस प्रदर्शन के लिए 3. कुसंग के कारण 4. धन प्राप्ति के लिए 5. फैशन परस्ती के लिए 6. घर को सजाने के लिए आदि। शिकार के कई रूप हैं, जैसे - मनोरंजन के लिए कभी-कभी सांडों, मुर्गों, भैंसों, बिल्लियों, कुत्तों, बंदरों सांप-नेवला आदि जानवरों को परस्पर लड़ाना।

जो व्यक्ति दूसरों के प्राणों का अपहरण कर कष्ट देते हैं उन्हें सुख कहां प्राप्त हो सकता है? जो अपनी विलासिता, स्वार्थ, रसलोलुपता, धार्मिक अंध विश्वास अथवा मनोरंजन के लिए पशु-पक्षियों के रक्त से अपने हाथ को रंगते हैं, उन्हें आनंद कहां?

ये सातों व्यसन केवल पुरुष जाति के लिए ही नहीं हैं महिलाओं के लिए भी हैं। उन्हें भी इन व्यसनों से मुक्त होना चाहिए।

जैन साधना पद्धति में व्यसन-मुक्ति साधना के महल में प्रवेश करने का प्रथम द्वार है। जब तक व्यसन से मुक्ति नहीं होती, मनुष्य में गुणों का विकास नहीं हो सकता। इसलिए जैनाचार्यों ने व्यसन मुक्ति पर अत्यधिक बल दिया है। व्यसन से मुक्त होने पर जीवन में आनंद का सागर ठाठें मारने लगता है।

अतः व्यसन जीवन के सर्वनाशक है। ये जीवन को दुर्गति में ढकेलने का कार्य करते हैं। हमें इनसे बचने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। जुआं खेलने से धन का नाश, मांस भक्षण से दयाधर्म का नाश, शराब से परिवार एवं समाज के हितों का नाश, शिकार से धर्म का नाश, चोरी से प्रतिष्ठा का नाश, परस्त्रीगमन-वेश्यागमन से तन, धन और मन का सर्वनाश करता हुआ मानव अधोगति का मेहमान बनता है। अतः साधकों को सदैव इन व्यसनों से दूर रहना चाहिए। जीवन को उन्नत बनाने के लिए व चरित्र निर्माण के लिये इन व्यसनों को छोड़ना नितान्त जरूरी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन कर्म मीमांसा

* कर्म का अस्तित्व
* आत्मा कर्म बंध की पद्धति
* कर्म बंध के 5 हेतु
* कर्म बंध के चार प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म का अस्तित्व

संसार में हम जिधर भी देखें उधर विविधता एवं विषमता के दर्शन होते हैं। पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में कर्म को प्रधानता दी जा रही है। भारतीय धर्मों और दर्शनों ने ही नहीं, पाश्चात्य धर्मों और दर्शनों ने भी किसी न किसी रूप में कर्म को स्वीकार किया है। पश्चिमी देशों में '' गुड डीड'' और '' बैड डीड'' के नाम से '' कर्म'' शब्द प्रचलित है।

संसार में चार गति एवं चौरासी लाख जीव योनियाँ है, उन सब गतियों एवं योनियों में जीवों की विभिन्न दशाये एवं अवस्थायें दिखाई देती है। कोई मनुष्य है तो कोई पशु है। कोई पक्षी के रूप में है तो कोई कीड़े-मकोड़े के रूप में रेंग रहा है।

मनुष्य जब से आँखे खोलता है तबसे उसके सामने चित्र-विचित्र प्राणियों से भरा संसार दिखाई पड़ता है, उन प्राणीयों में कोई तो पृथ्वीकाय के रूप में कोई जलकाय के रूप में, कोई तेजस्काय के रूप में, कोई वायुकाय के रूप में, कोई विविध वनस्पतिकाय के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

कहीं लट इत्यादि बेइन्द्रिय जीवों का समूह रेंगता हुआ नजर आता है, कही जूँ, खटमल इत्यादि तेइन्द्रिय जीवों का समूह चलता फिरता नजर आता है। तो कही मक्खी, मच्छर इत्यादि चोरेन्द्रिय जीवों का समूह रुप में उड़ते, फुदकते दृष्टिगोचर होते हैं। इतना ही नहीं कुत्ते, बिल्ली, पशु पक्षी, इत्यादि पंचिन्द्रिय जीवों के रुप में दिखाई देते है।

यह एकन्द्रिय से लेकर पंचिन्द्रिय तक के जीवों की अच्छी खासी हलचल दिखाई देती है। इनकी आकृति, प्रकृति रूप-रंग, चाल-ढाल, आवाज आदि एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होती है। इतना ही नहीं हम मनुष्यगति को ही ले, वहाँ कितनी विषमतायें देखने को मिलती है। कोई शरीर से पहलवान लगता है तो कोई एकदम दुबला-पतला है। कोई रोगी है तो कोई निरोगी, कोई सुंदर - सुरुप-सुडौल लगता है तो कोई एक दम कुरुप एवं बेडौल दिखाई देता है। कोई बुद्धिमान है तो कोई निरामूर्ख हैं। किसी की बात सुनने को लोग सदा लालायित रहते है तो किसी का वचन भी कोई सुनना नहीं चाहता है। कोई व्यक्ति क्षमा, सहिष्णुता आदि आत्मिक गुणों की सजीव मूर्ति है तो कोई क्रोधादि दुर्गुणो का पुतला है। कोई चारों ओर धन - **वैभव - स्वजन - परिजन से विहीन दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं।**

मनुष्यों और तिर्यंचों के अतिरिक्त नारक और देव भी है, जो भले ही इन चर्मचक्षुओं से दिखाई न दे, परंतु अतीन्द्रिय ज्ञानियों को दिव्य नेत्रों से वे प्रत्यक्षवत् दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार संसारी जीवों का विशाल और अगणित अनंत प्रकार की विविधताओं से भरा यह मेला है। चार गतियों वाले संसार में विविधताओं, विभिन्नताओं, विषमताओं एवं विचित्रताओं से भरे जीवों का लेखा जोखा है।

संसारी जीवों में असंख्य विभिन्नताओं का क्या कारण है ?

प्रश्न है कि प्रत्येक प्राणी के जीवन में यह विविधता और विषमता क्यों है ? हमारे तत्त्वज्ञानियों ने इस प्रश्न का समाधान देते हुए कहा है कि-

'' **कर्मजं लोकवैचित्र्यं**'' विश्व की यह विचित्रता कर्मजन्य है। कर्म के कारण है। मानव बाह्य दृष्टि से समान होने पर भी जो अंतर दिखाई देता है, उसका कारण कर्म है।

'' कम्मओणं भंते ! जीवों नो अकम्मओ विमति भावं परिणमई''

अर्थात् हे भगवन ! क्या जीव के सुख - दुःख और विभिन्न प्रकार की अवस्थाएँ कर्म की विभिन्नता पर निर्भर है, अकर्म पर तो नहीं ? भगवान महावीर ने कहा -

'' कम्मओणं जअे णो अकम्मओ विभति भावं ओ परिणमई।''

अर्थात् हे गौतम ! संसारी जीवों के कर्म भिन्न - भिन्न होने के कारण उनकी अवस्था और स्थिति में भेद है, यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकर्म के कारण नहीं है।

कर्म फल के विषय में प्रभु महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र के सातवें अध्ययन में बताया है **कम्मसच्चा हु पाणिणो** अर्थात् प्राणी जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है।

कर्म की व्याख्या :-

कर्म का शाब्दिक अर्थ कार्य, प्रवृति या क्रिया है। इस दृष्टि से खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना, सोचना-बोलना, जीना-मरना इत्यादि समस्त शारीरिक, मानसिक, वाचिक, क्रियाओं को कर्म कहा जाता है।

द्रव्य कर्म और भाव कर्म :-

1. द्रव्य कर्म :- पुद्गल, द्रव्य के समूह को द्रव्य कर्म कहते है।

2. भाव कर्म :- इन समूहों को प्रभावित करने वाली शक्ति अथवा फल देने की शक्ति भाव कर्म है।

जीव के मन में जो विचार धारा चलती है, संकल्प विकल्प होते हैं। कषाय के भाव उत्पन्न होते हैं, किसी को लाभ - हानि पहुँचाने का मानसिक आयोजन चलता है, कलाकांक्षा होती है,ये सब मानसिक विकार भाव -कर्म में परिगणित है। उन मानसिक विकारों के आधार पर जीव के जो पार्श्ववती पुद्गल परमाणु आत्मा के साथ जुड़ते है और आत्मप्रदेशों से संबंध स्थापित करते हैं उन्हें द्रव्य कर्म के अन्तर्गत माना जाता है।

आत्मा और कर्म का संबंधः-

कोई पूछे कि कर्म का आत्मा के साथ संबंध कब हुआ ? इसके उत्तर में यही कहा जाएगा कि दूध में घी का तत्त्व कब मिला। सोने में मिट्टी कब मिली और तिल में तेल, ईख में मधुर रस का मिलन कब हुआ ?

उक्त वस्तुओं का संबंध अनादि है, जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की परंपरा अनादि काल से चली आ रही है, उसी प्रकार से आत्मा और कर्म का मिलन तथा द्रव्यकर्म से भावकर्म तथा भावकर्म से द्रव्यकर्म का सिलसिला भी अनादि काल से चला आ रहा है। ये दोनों एक दूसरे के साथ अनादि काल से घुले - मिले हैं। दोनों परस्पर एक दूसरे के निमित्त भी है।

आत्मा और कर्म का संबंध अनादि होते हुए भी अनंत नहीं है। जैसे बीज और वृक्ष की परंपरा बीज जला देने पर समाप्त हो जाती है, वैसे ही कर्म का आत्मा के साथ संबंध भी समाप्त हो सकता है। जिस दिन आत्मा अपने निज-स्वरुप को जान लेगी उस दिन कर्म-शक्ति आत्म शक्ति के सामने पराजित हो जाएगी। कर्म का अस्तित्व स्वीकार करते ही अन्य को दोषी ठहराने की प्रवृति समाप्त हो जाती है।

भगवान से पूछा गया कि आत्मा स्वभाव से कर्म लेप है, निर्मल है तो फिर कर्मों का संचय क्यों होता है और कैसे होता है ?

समाधान में भगवान फरमाते है "**पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्म**" (उत्तरा. 32/72) आत्मा राग और द्वेष से ग्रस्त हो जाने पर पुद्गलों को आकर्षित करता है। वे पुद्गल कार्मण वर्गणा के रूप में उसके साथ लग जाते है, उदाहरण रूप में एक जगह दो बालक खेल रहे हैं। वे मिट्टी का गोला बनाकर दिवार पर फेंकते हैं। एक का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

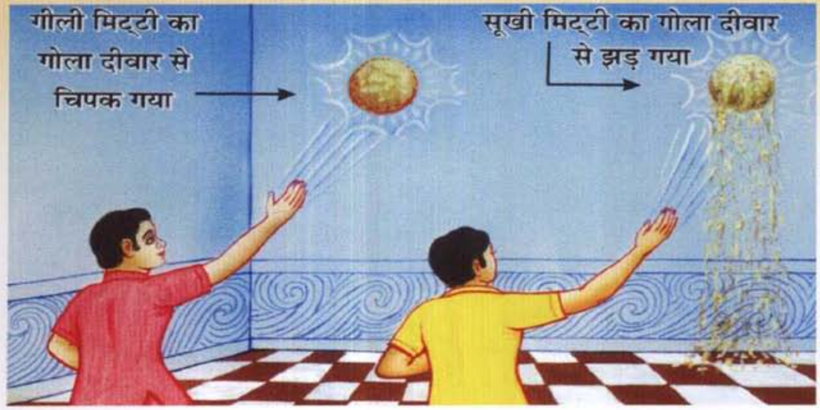

गोला गीला है, वह दिवार पर लगते ही चिपक जाता है। दूसरे का गोला सूखा है। उसमें गीलापन बहुत ही कम है वह दीवार पर लगते ही हलका सा चिपकेगा तो सूखने पर अपने आप झड़कर नीचे गिर जाएगा।

उल्लो सुक्को य दो छूढा,
गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे,
जो उल्लो सो तत्थ लग्गई।।

उत्तरा. 25/42

गीले और सूखे गोले की तरह जिस आत्मा में राग-द्वेष का भाव तीव्र होता है, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय उग्र होते हैं, कर्म रूपी रज उसकी आत्मा के साथ गहरे रूप में चिपक जायेंगे। यदि प्रवृत्ति में राग-द्वेष का भाव नहीं है अथवा बहुत अल्प है तो या तो कर्म लगेगा नहीं, यदि लग जाये तो कर्म कुछ ही समय में स्वतः झड़ जायेंगे।

इस तत्त्व को समझाने के लिए पहला उदाहरण वस्त्र का तथा दूसरा पहलवान का दिया जाता है। एक सूखा वस्त्र रस्सी पर टंगा है तथा दूसरा गीला वस्त्र टंगा है। अब हवा के साथ रजकण उड़कर आ रहे हैं। आँधी आ रही है तो सूखे वस्त्र पर जो मिट्टी गिरेगी तो वह उसे झटकने से ही उतर जाएगी। वस्त्र पर चिपकेगी नहीं। किंतु गीले वस्त्र पर या तेल आदि से चिकने वस्त्र पर मिट्टी आदी के रज कण चिपक जायेंगे, वस्त्र मैला हो जाएगा। जिसे साफ करने के लिए पुनः धोना पड़ेगा। परिश्रम भी करना पडेगा।

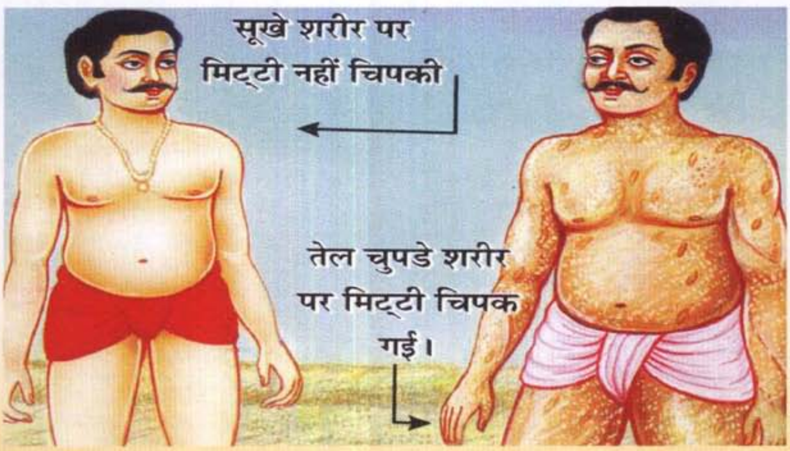

दो पहलवान कुश्ती लड़ रहे हैं। एक का शरीर सूखा-लूखा है। दूसरे ने अपने शरीर पर तेल चुपड़ लिया है। दोनों मिट्टी आदि में लोट-पोट होंगे तो सूखा - लूखा शरीर वाले के जब मिट्टी चिपकेगी, वह पोंछने से या पानी से नहाने पर साफ हो जाएगी, किंतु दूसरे चिकने शरीर वाले को मिट्टी आदि उतारने के लिए साबुन आदि रगड़ना पड़ेगा, मेहनत करने पर शरीर साफ होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही बात कर्मबंध के अनुसार संसारी जीव जब राग द्वेष युक्त मन, वचन, काया की प्रवृत्ति करता है तब जीव में एक स्पन्दन होता है, उससे जीव सूक्ष्म पुद्‌गल परमाणुओं को ग्रहण करता है और उनके द्वारा नाना प्रकार के आभयन्तर संस्कारों को उत्पन्न करता है। आत्मा में चुम्बक की तरह अन्य पुद्‌गल परमाणुओं को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति है और उन परमाणुओं में लोहे की तरह आकर्षित होने की शक्ति हैं। यद्यपि वे पुद्‌गल परमाणु भौतिक है - अजीव है, तथापि जीव की राग - द्वेषात्मक, मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रिया के द्वारा आकृष्ट होकर वे आत्मा के साथ ऐसे घुल मिल जाते हैं, जैसे दूध और पानी, अग्नि और लोहपिण्ड की भांति परस्पर एकमेक हो जाते हैं।

अंगीठी के जलते अंगारे पर एक लोहे का गोला रखा जाय, देखते ही देखते थोड़ी देर में वह लाल बन जाएगा। अग्नि की ज्वाला में तपकर लाल बन गया। गोला लोहे का है, देखने में बिल्कुल काला है, परंतु अग्नि के संयोग से लाल बन गया, सोचने की बात यह है कि लोहे के मजबूत गोले में जहां सूई प्रवेश नहीं कर सकती, पानी भी प्रवेश नहीं कर सकता, तनिक भी जगह नहीं है, फिर भी अग्नि कैसे प्रवेश कर गई? अग्नि गोले के आर-पार चली गई, पूरे गोले का काला रंग बदल कर लाल हो गया। मानो अग्नि और गोला एक रस हो गया है।

वैसे ही आत्मा के कर्मण वर्गणाओं का जब प्रवेश होता है तब वे तद्‌रूप तन्मय बन जाती है और आत्मा व कर्म में भेद नहीं दिखाई देता है। एक ऐसा रसात्मक मिश्रण हो जाता है कि आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में दिखाई नहीं देती। कर्म संयोग से मलिन, कर्ममय दिखाई देती है।

कर्म बंध की पद्धति

कर्मशास्त्र के अनुसार बंध की चार पद्धतियाँ इस प्रकार है -

1. स्पृष्ट :- जिस प्रकार किसी के पास शक्तिशाली चुम्बक रखा है पास ही सूईयाँ रखी है। जब वह चुम्बक को सूइयों के पास रख देगा तो वह चुम्बक सूइयों को अपनी ओर खींचकर एकत्र कर लेगा। इसी प्रकार कषाय युक्त आत्मा की प्रवृत्ति से कर्म पुद्‌गलों का आत्म प्रदेशों के निकट या एक स्थान पर इकट्ठा हो जाना कर्म की स्पृष्ट अवस्था है। स्पृष्ट कर्म मिच्छामि दुक्कडं आदि पश्चाताप रूप साधारण प्रायश्चित से ही छूट जाते हैं। प्रसन्नचंद्र राजर्षि का उदाहरण प्रसिद्ध है।

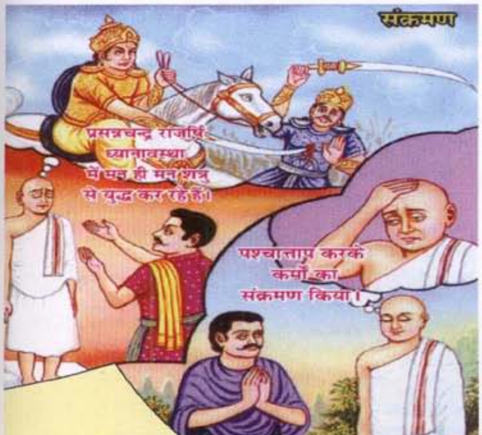

कीलो का स्पृष्ट बंधन

दृष्टांत - श्री प्रसन्नचंद्र राजर्षि राजपाठ छोड़कर मुनि अवस्था को प्राप्त कर तप-ध्यान में लीन थे। तभी महाराजा श्रेणिक के दुर्मुख नामक दूत ने राजर्षि को देखकर कहा कि आपके राज्य पर शत्रु ने आक्रमण किया है। यह सुनकर ध्यानस्थ राजर्षि का चित्त आर्त्त-रौद्र ध्यान में चला गया और वे शत्रु से मानसिक युद्ध करने लगे और स्पृष्ट कर्मबंध बाँधे।जब उनका हाथ मुकुट फेंकने के लिए सिर पर गया तो उन्हें अपनी मुनि स्थिति का भान हुआ और उन्होंने अन्तःकरण से प्रायश्चित कर जो स्पृष्ट कर्म बांधा था, उसकी निर्जरा कर वे केवलज्ञानी बनें।

2. बद्ध :- चुम्बक पर लगी सूइयों को एक धागे में पिरोकर रख दे तो फिर वे इधर उधर नहीं बिखरेगी। जब तक अधिक प्रयत्न नहीं किया जाएगा, वे धागे में बँधी रहेगी। इसी प्रकार आत्मा के साथ दृढतापूर्वक संलग्न कर्मों की यह स्थिति बद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाती है। आलोचना, प्रतिक्रमण आदि द्वारा उन्हें आत्मा से दूर किया जा सकता है। अतिमुक्तक कुमार मुनि का उदाहरण आगम में प्रसिद्ध है।

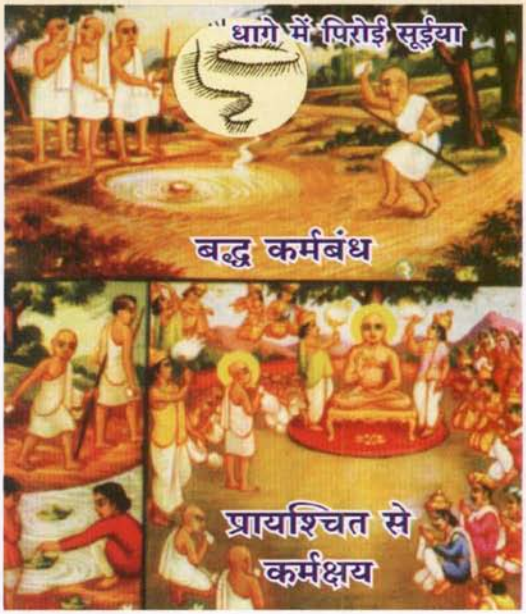

दृष्टांत - एक बार वृद्ध मुनियों के साथ बाल मुनि अतिमुक्तक वन में जा रहे थे। रास्ते में पानी से भरा गड्डा दिखाई दिया। बाल मुनि अपना लकड़ी का पात्र पानी में तैराते हुए क्रीड़ा करने लगे। तभी वृद्ध मुनि वहाँ आए और कहा कि इस प्रकार की क्रीड़ा करना अपना धर्म नहीं है। बालक मुनि लज्जित हुए और अन्तःकरण से प्रायश्चित लेकर प्रतिक्रमण किया व अपने बद्ध कर्मों की निर्जरा कर ली।

3. **निधत्त** :- धागे में पिरोई हुई सूइयों को कोई और मजबूत रस्सी से बाँधकर रख दे या उन्हें गर्म करके आपस में चिपका दे तो उन सूइयों को अलग-अलग करना बहुत कठिन हो जाता है, परंतु फिर भी प्रयत्न द्वारा उन्हें अलग किया जा सकता है। इसी प्रकार तीव्र कषाय भावपूर्वक आत्मा के साथ गाढ रूप में बंधे हुए कर्मों की अवस्था निधत्त है। अर्जुनमाली मुनि की तरह वे कठोर तप से दूर किया जा सकते है।

दृष्टांत - अर्जुनमाली एक यक्ष के अधीन होकर नित्य छः पुरुषों और एक स्त्री की हत्या करता था। एक दिन प्रभु महावीर के दर्शनार्थ सेठ सुदर्शन जा रहे थे। उनके भक्ति भाव से प्रभावित होकर यक्ष अर्जुनमाली के शरीर से निकल गया। अर्जुनमाली सेठ सुदर्शन के साथ प्रभु महावीर के पास पहुँचा। प्रभु के उद्बोधन से वह प्रतिबोधित हुआ और किए गए घोर पापों के लिए प्रायश्चित कर चारित्र धर्म को अंगीकार करते हुए दुर्धर तप किए और उपसर्गों को शांत भाव से सहन करते हुए संचित पाप कर्मों और चार घाति कर्मों का नाश कर अन्ततोगत्वा केवलज्ञान को प्राप्त हुआ।

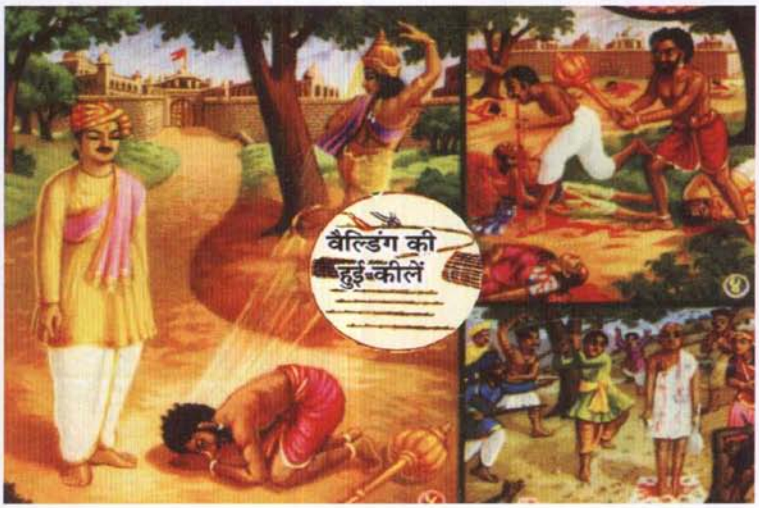

पौषध, आयंबिल, तप आदि साधना द्वारा दीर्घकालीन कर्मों की शीघ्र ही निर्जरा की जा सकती है।

4. **निकाचित** :- यदि कोई व्यक्ति उन सूइयों को एकत्र कर भट्टी पर तपा करके हथौड़े से कूट-कूटकर उन्हें पिंड रुप बना दे तो फिर उन सूइयों को अलग-अलग कर पाना संभव नहीं है। इसी प्रकार अति तीव्र कषाय भावों के साथ जिन कर्मों का बंध इतना सघन या प्रगाढ़ रूप में हो गया है कि उन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता। इसे निकाचित कहा जाता है। निकाचित कर्मों में उद्वर्तन, उपवर्तन, संक्रमण आदि नहीं हो सकता। जिस प्रकार श्रेणिक राजा के बंधे नरक के कर्म भोगे बिना नहीं छूटे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टांत - महाराजा श्रेणिक धर्म प्राप्त करने से पूर्व मिथ्यात्व अवस्था में थे। वह शिकार व्यसनी थे। एक दिन शिकार करते एक गर्भिणी हिरणी को तीर से बींध दिया। वह हिरणी गर्भ के साथ अत्यंत वेदना - कष्ट से तड़पती रही किंतु महाराज श्रेणिक यह देखकर हर्षित हुए और सोचने लगे कि मैं कितना बहादुर हूँ कि एक ही तीर से दोनों को आहत कर दिया। इस पाप कृत्य की अनुमोदना, प्रशंसा से उनका नरक आयुष्य का बंध गाढ निकाचित हो गया। कालान्तर में वे प्रभु महावीर के उपासक बने और सम्यक्त्व तथा तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया परंतु पूर्व में बँधा हुआ नरकायुष्य का निकाचित कर्म उन्हे भोगना ही पड़ा।

कर्मबंध के 5 हेतु (कारण)

1. मिथ्यात्व

अनंतज्ञानी प्रतिपादित करते हैं कि मिथ्यात्व अति भयंकर कोटि का पाप है। वह पाप जब तक रहता है तब तक वस्तुतः एक भी पाप नहीं छुटता है। जो पदार्थ जैसा है जिस स्वरूप में है उसे वैसा ही देखना - कहना - मानना यह सम्यग्दर्शन है। ठीक इससे विपरीत जो पदार्थ जैसा है जिस स्वरूप में है उससे विपरीत देखना- कहना - मानना वह मिथ्या दर्शन है।

धर्म को सही अर्थ में धर्म मानना यह सम्यग् दर्शन है। और इससे विपरीत अधर्म में भी धर्म बुद्धि रखना, संसार पोषक-विषय-कषाय, राग-द्वेषादि में भी धर्म बुद्धि रखना यह मिथ्यात्व है। आत्मा-परमात्मा, पुण्य - पाप, स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, आश्रव-संवर, निर्जरा और बंध, कर्म-धर्म तथा मोक्षादि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा है। इन तत्त्वों का जो स्वरूप है, जैसा स्वरूप एवं जो अर्थ है उसी स्वरूप एवं अर्थ में इन तत्त्वों को मानना जानना ही सम्यग् श्रद्धा कहलाती है। इससे विपरीत या तो इन तत्त्वों को न मानना, न समझना, न जानना या विपरीत अर्थ में मानना-जानना आदि मिथ्यात्व कहलाता है। यह मिथ्यात्व कर्म बंध कारक है। मिथ्यात्व कर्म बंधन में मूलभूत कारण है। यह बताते हुए कहा है कि कपड़े की उत्पत्ति में तन्तु, घड़ा बनाने में मिट्टी व धान्यादि की उत्पत्ति में बीज कारण है उसी तरह कर्म की उत्पत्ति में मिथ्यात्व कारण है।

2. अविरति : न + विरति = अविरति है।

अर्थात् पाप त्याग की प्रतिज्ञा न होना अविरति कहलाता है। हिंसादि पाप क्रिया यद्यपि प्रतिपल नहीं होती, तथापि उसका प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग किये बिना अविरति का पाप चालू रहता है। इससे प्रतिसमय कर्मबंध होता है।

जिस तरह धर्म करने, कराने तथा अनुमोदना करने से पुण्यबंध होता है, पापकर्मों का नाश होता है, इसी तरह पाप करने, कराने तथा पाप की अनुमोदना अपेक्षा रखने से भी कर्मबंध होता है। हम पाप नहीं करते, फिर भी पाप न करने की प्रतिज्ञा लेने से भय क्यों होता है? यदि गहराई से विचार करें तो पता चलता है कि मन में कही न कहीं पाप की अपेक्षा रही हुई है। यदि ऐसा प्रसंग आ गया तो किये बिना कैसे रहूँगा ? वहाँ तब पाप की अपेक्षा है, राग है। इससे पाप न करते हुए भी पाप अविरति चालू रहता है।

व्यवहार में देखा जाता है कि यदि किसी व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ व्यापार में साझा है, भले फिर वह कभी जाकर दुकान को संभाले ही नहीं, तथापि लाभहानि का हिस्सेदार उसको भी होना ही पड़ता है। इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह पूरे साल कोई व्यक्ति मकान बंद कर बाहर चला जाय, किंतु म्युनिसिपालटी को नोटिस न दिया हो तो नल, बिजली आदि का टैक्स उसे भरना ही पड़ता है। इसी तरह पाप त्याग की प्रतिज्ञा नहीं है तो पाप चालू रहता है। कर्म का भार बढ़ता रहता है। अतः यथाशक्ति समय की मर्यादा बांधते हुए व्रत, नियम, प्रतिज्ञा अवश्य ग्रहण करनी चाहिए, ताकि आत्मा पर व्यर्थ कर्म का भार न बढ़े।

3. प्रमाद :

मोक्षमार्ग की उपासना में शिथिलता लाना और इन्द्रियादि के विषयों में आसक्त बनना यह प्रमाद है विकथा आदि में रस रखना भी प्रमाद है। जो आगम विहित कुशल क्रियानुष्ठानादि है उनमें अनादर करना प्रमाद है। मन-वचन-कायादि भोगों का दुष्प्रणिधान-आर्तध्यानादि की प्रवृति प्रमाद भाव है। मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पाँच प्रकार के प्रमाद बताए गए हैं जो जीवों को संसार में गिराते हैं। पतन के कारणभूत प्रमाद स्थान कर्म बंध कराते हैं।

4. कषाय :

जिससे संसार का लाभ हो वह कषाय है। अतः निश्चित हो गया कि जब जीव क्रोधादि कषायों की प्रवृत्ति करेगा तब संसार अवश्य बढेगा। संसार कब बढेगा ? जब कर्म बंध होंगे तब। अतः कषाय सबसे ज्यादा कर्म बंधाने में कारण है । कषाय भाव में जीव कर्म से लिप्त होता है। ये कषाय आश्रव में भी कारण है तथा कर्म बंध में भी कारण है। मूलरुप से देखा जाय तो राग - द्वेष ये दो ही मूल कषाय है। राग के भेद में माया और लोभ आते हैं। तथा द्वेष के भेद में क्रोध और मान गिने जाते है।

5. योग :

जीव के विचार, वाणी एवं काय व्यवहार को योग कहते है। सारी प्रवृत्ति इन तीन कारणों के सहारे ही होती है। प्रत्येक क्रिया में ये तीन सहायक है। काया की क्रिया प्रवृत्ति कहलाती है तो मन की क्रिया वृत्ति के रूप में समझी जाती है। ये सभी कर्म बंध के कारण है।

इस तरह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँचों प्रमुख रूप से कर्म बंध के हेतु हैं।

कर्मबंध के चार प्रकार

आत्म-परिणामों में जब राग-द्वेष (कषाय) आदि का स्पंदन या कंपन होता है तथा मन, वचन, काय योग में चंचलता आती है तो वह कार्मण वर्गणा के पुद्गलों को आकर्षित कर ग्रहण कर लेता है। जीव द्वारा ग्रहण किये जाने पर ये कार्मण वर्गणा कर्म रूप में परिणत होती है। इसे ही बंध कहते हैं। ग्रहण करते समय ही उनमें चार प्रकार के अंशों का निर्माण हो जाता है। ये चारों अंश बंध के चार प्रकार है। अर्थात् कार्मण वर्गणा के साथ आत्मा का संबंध होना बंध है। उस बंध के चार प्रकार हैं -

1. प्रकृति बंध :- प्रकृति का अर्थ है स्वभाव । कुल आठ कर्म है, इनकी 148 उत्तर प्रकृतियाँ है। प्रत्येक का स्वभाव अलग - अलग है। कर्मों का जो स्वभाव है उसी के अनुरूप कर्म बँधता है अर्थात् बंधन होते ही यह निश्चित हो जाता है कि यह कर्मवर्गणा आत्मा की किस शक्ति को आवृत करेगी। जैसे ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव ज्ञान गुण को आच्छादित करना है। यह इस कर्म का प्रकृतिबंध है। उदाहरण के लिए, मेथी का लड्डू वात-पित्त-कफ का नाशक है तो अजवाईन का लड्डु पाचन में सहायक है। यह लड्डू की प्रकृति या स्वभाव है। इसी प्रकार विभिन्न कर्मों का स्वभाव आत्मा के विभिन्न गुणों को आच्छादित करना है, यह प्रकृतिबंध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. स्थिति बंध - जिस समय कर्म का बंध होता है, उसी समय यह भी निश्चित हो जाता है कि यह कर्म कितने समय (काल) तक आत्म-प्रदेशों के साथ रहेगा। इतने समय पश्चात् उदय में आयेगा और फिर झड़ जाएगा। जैसे लड्डू आदि मिठाई बनाते समय यह भी निश्चित हो जाता है कि यह मिठाई कितने समय तक ठीक अवस्था में रहेगी। विकृत नहीं होगी। जैसे दूध या छैने की मिठाई 24 घंटा बाद ही विकृत हो जाती है। कोई मिठाई 15 दिन तो कोई एक महीने तक भी विकृत नहीं होती। कोई दवा छः महीने बाद, कोई 12 महीने बाद अपने गुण छोड़ देती है अर्थात् एक्सपायर हो जाती है। इसी प्रकार कर्म की स्थिति निश्चित हो जाना स्थिति बंध है।

3. रसबंध या अनुभागबंध - कर्मों को फल देने की स्थिति अनुभाग या रसबंध है। कर्म आत्मा के साथ जब बंधते है तब उनके फल देने की शक्ति मंद या तीव्र तथा शुभाशुभ रस या विषायक से युक्त होती है। इस प्रकार की शक्ति या विशेषता रसबंध या अनुभागबंध कहलाती है। शुभ प्रकृति का रस मधुर और अशुभ प्रकृत्ति का रस कटु होता है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार किसी लड्डू में मधुर रस होता है और किसी में कटु रस होता है या कोई लड्डू कम मीठा और कोई अधिक मीठा होता है। उसी प्रकार किसी कर्म का विपाक फल तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होता है तो किसी का मंद, मंदतर और मंदतम होता है।

4. प्रदेशबंध - कर्म परमाणु का समूह प्रदेशबंध है। प्रदेशों की न्यूनाधिक संख्या के आधार पर प्रदेशबंध होता है। जैसे कोई लड्डू छोटा है, बड़ा है वैसे ही किसी कर्म में प्रदेश अधिक होते हैं, किसी में कम होते हैं। सबसे कम प्रदेश आयुष्य कर्म का होता हैऔर सबसे अधिक प्रदेश वेदनीय कर्म का माना गया है।

आत्मा के आठ अक्षय गुणों को रोकने वाले आठ प्रकार के कर्म है।

कर्म का नाम	प्रकार	कौनसे गुण को रोके	दृष्टांत
ज्ञानावरणीय	5	आत्मा के ज्ञान गुण को रोके	आंखों पर पट्टी जैसा।
दर्शनावरणीय	9	आत्मा के दर्शन गुण को रोके	राजा के द्वारपाल जैसा।
वेदनीय	2	आत्मा के अव्याबाध सुख को रोके	शहद से भरी छुरी जैसा।
मोहनीय	28	सम्यग्दर्शन और चरित्र गुण को रोके	मदिरा जैसा।
आयुष्य	4	आत्मा की अक्षय स्थिति को रोके।	बेड़ी (बंधन) जैसा
नाम	103	आत्मा के अरुपी गुण को रोके	चित्रकार जैसा
गोत्र	2	आत्मा के अगुरु लघु गुण को रोके	कुम्हार के घड़े जैसा।
अंतराय	5	आत्मा के अनंत वीर्य गुण को रोके	राजा के खजांची जैसा।

सिद्ध में ये आठ कर्मों के क्षय से आठ प्रकार के अक्षय गुण पूर्ण रूप से प्रकट होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रार्थ

* नमस्कार महामंत्र
* पंचिंदिय सूत्र
* शुद्ध स्वरुप
* खमासमण सूत्र
* सुगुरु को सुखशाता पूछा
* अब्भूट्ठिओ सूत्र
* तिक्खुत्तो का पाठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नवकार महामंत्र

नमो अरिहंताणं। नमो सिद्धाणं। नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं । नमो लोए सव्व साहूणं। एसो पंच णमुक्कारो,
सव्व पाव प्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।1।।

सूत्र परिचय-

इस सूत्र में अरिहंत और सिद्ध इन दो प्रकार के देव को तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन प्रकार के गुरु को नमस्कार किया गया है। ये पांच परमेष्ठी परमपूज्य है। शास्त्रों में इस सूत्र का पंच मंगल एवं **पंच मंगल महाश्रुतस्कंध** नाम से भी परिचय कराया है।

शब्दार्थ

णमो - नमस्कार हो।
अरिहंताणं - अरिहंत भगवंतों को।
सिद्धाणं - सिद्ध भगवंतों को।
आयरियाणं - आचार्यों को।
उवज्झायाणं - उपाध्यायों को।
लोए - लोक में (ढ़ाई द्वीप में)
सव्व - साहूणं - सर्व साधूओं को।
एसो - यह
पंच णमुक्कारो - पांच नमस्कार
(पाँचों को किया हुआ नमस्कार)
सव्व पाव प्पणासणो - सर्व पापों का नाश करने वाला।
च - और।
सव्वेसिं - सब।
मंगलाणं - मंगलों में।
पढमं - पहला, मुख्य।
हवइ - है।
मंगलं - मंगल

भावार्थ : अरिहंत भगवंतों को नमस्कार हो। सिद्ध भगवंतों को नमस्कार हो। आचार्यों को नमस्कार हो।

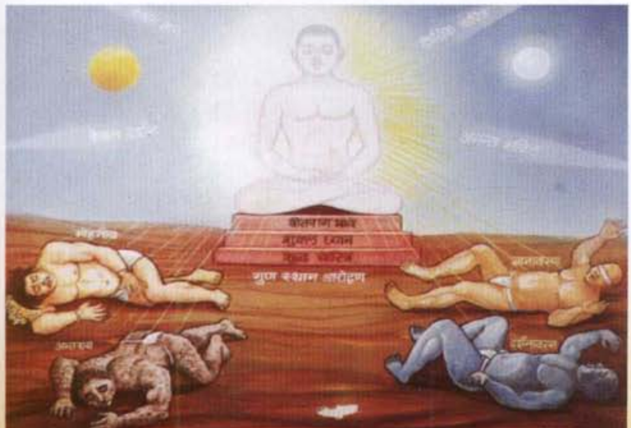

उपाध्यायों को नमस्कार हो। ढ़ाई द्वीप में वर्तमान सर्व साधुओं को नमस्कार हो। यह पांच (परमेष्ठियों को किया हुआ) नमस्कार सर्व पापों (अशुभ कर्मों) को नाश करने वाला तथा सब प्रकार के लौकिक लोकोत्तर मंगलों में प्रथम (प्रधान - मुख्य) मंगल है।

इन पांच परमेष्ठियों के एक सौ आठ (108) गुण है, इसके लिए कहा है -

बारस गुण अरिहंता, सिद्धा अट्ठेव सूरि छत्तीसं।
उवज्झाया पणवीसं, साहू सगवीस अट्ठसयं।।

अरिहंत के बारह, सिद्ध के आठ, आचार्य के छत्तीस, उपाध्याय के पच्चीस और साधु के सत्ताईस गुण है। सब मिल कर पंचपरमेष्ठियों के 108 गुण है। वे इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरिहंत के 12 गुण

अरिहंत = अरि (शत्रु)+ हंत (नाश)
आत्मा के शत्रुओं का नाश करने वाले, चार घाती कर्मों का क्षय करने वाले
अरिहंत के आठ प्रातिहार्य तथा चार मूल अतिशय कुल बारह गुण इस प्रकार है

आठ प्रातिहार्य

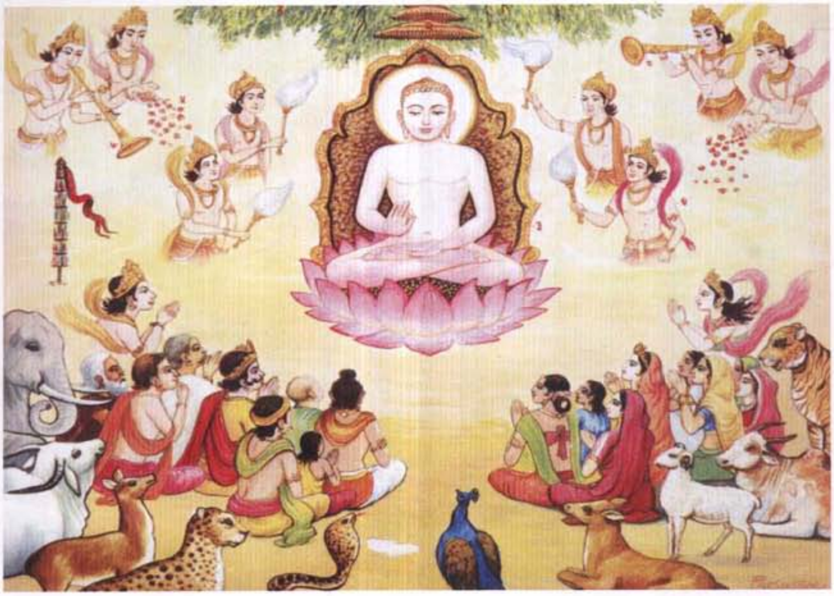

1. अशोक वृक्ष :- जहाँ भगवान का समवसरण रचा जाता है वहाँ उनकी देह से बारह गुणा बड़ा अशोक वृक्ष (आसोपालव के वृक्ष) की रचना देवता करते हैं। उसके नीचे भगवान बैठकर देशना (उपदेश) देते हैं।

2. सुरपुष्पवृष्टि :- एक योजन प्रमाण समवसरण की भूमि में देव सुगंधित पंचवर्ण वाले पुष्पों की घुट में प्रमाण वृष्टि करते हैं। वे पुष्प जल तथा स्थल में उत्पन्न होते हैं और भगवान के अतिशय से उनके जीवों को किसी प्रकार की बाधा पीड़ा नहीं होती।

3. दिव्य-ध्वनि :- भगवान की वाणी को देवता मालकोश राग, वीणा वंसी आदि से स्वर पूरते हैं।

4. चामर :- रत्नजड़ित स्वर्ण की डंडी वाले चार जोड़ी श्वेत चामर समवसरण में देवता भगवान को वींझते हैं।

5. आसन :- भगवान के बैठने के लिए रत्नजड़ित सिंहासन की देवता रचना करते हैं।

6. भामंडल :- भगवान के मुखमंडल के पीछे शरद ऋतु के सूर्यसमान उग्र तेजस्वी भामंडल की रचना देवता करते हैं उस भामंडल में भगवान का तेज संक्रमित होता है। यदि यह भामंडल न हो तो भगवान का मुख दिखलाई न दे, क्योंकि भगवान का मुख इतना तेजस्वी होता है जिसके सामने कोई देख नहीं सकता।

7. दुंदुभि :- भगवान के समवसरण के समय देवता - देवदुंदुभि बजाते है। वे ऐसा सूचन करते है कि हे भव्य प्राणियों ! तुम मोक्ष नगर के सार्थवाह तुल्य इस भगवान की सेवा करो, उनकी शरण में जाओ।

8. छत्र :- समवसरण में देवता भगवान के मस्तक के ऊपर शरदचंद्र समान उज्जवल तथा मोतियों की मालाओं से सुशोभित उपरा-उपरी तीन-तीन छत्रों की रचना करते हैं। भगवान स्वयं समवसरण में पूर्व दिशा की तरफ मुख करके बैठते हैं और अन्य तीन (उत्तर, पश्चिम, दक्षिण) दिशाओं में देवता भगवान के ही प्रभाव से प्रतिबिंब रचकर स्थापन करते हैं। इस प्रकार चारों तरफ प्रभु विराजमान है ऐसा समवसरण में मालूम पड़ता है। चारों तरफ प्रभु पर तीन-तीन छत्रों की रचना होने से बारह छत्र होते है। अन्य समय मात्र प्रभु पर तीन छत्र ही होते हैं।

ये प्रातिहार्य भगवान को केवलज्ञान होने से लेकर निर्वाण अर्थात समय तक सदा साथ रहते हैं।

चार मूल अतिशय (उत्कृष्ट गुण)

9. अपायापगमातिशय :- अपाय अर्थात् उपद्रवों का, अपगम अर्थात् नाश। वे स्वाश्रयी और पराश्रयी दो प्रकार के हैं।

स्वाश्रयी के दो प्रकार है-द्रव्य से तथा भाव से। द्रव्य से स्वाश्रयी अपाय अर्थात् सब प्रकार के रोग - अरिहंत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान को सब प्रकार के रोगों का क्षय हो जाता है, वे सदा स्वस्थ रहते हैं। भाव से स्वाश्रयी अपाय - अर्थात् अठारह प्रकार के अभ्यंतर दोषों का भी सर्वथा नाश हो जाता है । वे 18 दोष ये है -

1. दानांतराय 2. लाभान्तराय 3. भोगांतराय 4. उपभोगांतराय 5. वीर्यांतराय (अंतराय कर्म के क्षय हो जाने से ये पाँचो दोष नहीं रहते) 6. हास्य 7. रति 8. अरति 9. शोक 10. भय 11. जुगुप्सा (चारित्र मोहनीय की हास्यादि छह कर्म प्रकृत्तियों के क्षय हो जाने से यह छः दोष नहीं रहते) 12. काम (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद - चारित्रमोहनीय की ये तीन कर्म प्रकृतियां क्षय हो जाने से काम-विकार का सर्वथा अभाव हो जाता है) 13. मिथ्यात्व (दर्शन मोहनीय कर्म प्रकृति के क्षय हो जाने से मिथ्यात्व नहीं रहता) 14. अज्ञान (ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय हो जाने से अज्ञान का अभाव हो जाता है) 15. निद्रा (दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने से निद्रा-दोष का अभाव हो जाता है) 16. अविरति (चारित्र मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से अविरति दोष का अभाव हो जाता है) 17. राग 18. द्वेष (चारित्र मोहनीय कर्म में कषाय के क्षय होने से ये दोनों दोष नहीं रहते)

पराश्रयी अपायापगम अतिशय - जिससे दूसरों के उपद्रव नाश हो जावे अर्थात् - जहाँ भगवान विचरते हैं वहाँ प्रत्येक दिशा में मिलाकर सवा सौ योजन तक प्रायः रोग, मरी, वैर, अवृष्टि, अतिवृष्टि आदि-आदि नहीं होते।

10. ज्ञानातिशय :- भगवान केवलज्ञान द्वारा सर्व लोकालोक का सर्व स्वरूप जानते हैं।

11. पूजातिशय :- श्री तीर्थंकर सबके पूज्य है अर्थात् राजा, वासुदेव, बलदेव, चक्रवर्ती-देवता तथा इंद्र सब इनको पूजते है अथवा इनको पूजने की अभिलाषा करते हैं।

12. वचनातिशय :- श्री तीर्थंकर भगवान की वाणी को देव, मनुष्य और तिर्यंच सब अपनी-अपनी भाषा में समझते है। क्योंकि उनकी वाणी संस्कारादि गुण वाली होती है। यह वाणी पैंतीस गुणों वाली होती है, सो 35 गुण नीचे लिखते हैं -

1. सर्व स्थानों में समझी जाय । 2. योजन प्रमाण भूमि में स्पष्ट सुनाई दे। 3. प्रौढ़। 4. मेघ जैसी गंभीर। 5. स्पष्ट शब्दों वाली। 6. संतोष देनेवाली। 7. सुननेवाला प्रत्येक प्राणी ऐसा जाने कि भगवान मुझे ही कहते हैं। 8. पुष्ट अर्थवाली। 9. पूर्वापर विरोध रहित। 10. महापुरुषों के योग्य। 11. संदेह रहित । 12. दुषणरहित अर्थ वाली। 13. कठिन और गुण विषय भी सरलतापूर्वक समझ में आ जाय ऐसी। 14. जहाँ जैसा उचित हो वैसी बोली जाने वाली। 15. छः द्रव्यों तथा नव तत्त्वों को पुष्ट करने वाली। 19. मधुर। 20. दूसरों का मर्म न भेदाय ऐसी चातुर्यवाली। 21. धर्म तथा अर्थ इन दो पुरुषार्थों को साधने वाली। 22. दीपक समान अर्थ का प्रकाश करने वाली। 23. पर-निंदा और आत्मश्लाघा रहित। 24. कर्त्ता, कर्म, क्रियापद, काल और विभक्ति वाली। 25. श्रोता को आश्चर्य उत्पन्न करे ऐसी। 26. सुनने वाले को ऐसा स्पष्ट भान हो जाय कि वक्ता सर्व गुण संपन्न है। 27. धैर्यवाली। 28. विलंब रहित । 29. भ्रांति रहित। 30. सब प्राणी अपनी - अपनी भाषा में समझें ऐसी। 31. अच्छी वृद्धि उत्पन्न करे ऐसी। 32. पद के, शब्द के अनेक अर्थ हों ऐसे शब्दों वाली। 33. साहसिक गुणवाली। 34. पुनरुक्ति दोष रहित । 35. सुननेवाले को खेद न उपजे ऐसी।

सिद्ध भगवान के आठ गुण

जिन्होंने आठ कर्मों का सर्वथा क्षय कर लिया है और मोक्ष प्राप्त कर लिया है। जन्म मरण रहित हो गये है उन्हें सिद्ध कहते हैं। इनके आठ गुण है -

1. अनंतज्ञान - ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त होता है, इसमें सर्व लोकालोक का स्वरूप जानते हैं।

2. अनंत दर्शन - दर्शनावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से केवल दर्शन प्राप्त होता है। इसमें लोकालोक के स्वरूप को देखते हैं।

3. अव्याबाध सुख - वेदनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने से सर्व प्रकार की पीड़ा रहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरुपाधिपना प्राप्त होता है।

4. अनंत चारित्र - मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने से यह गुण प्राप्त होता है। इसमें क्षायिक सम्यक्तव और यथाख्यात चारित्र का समावेश होता है, इससे सिद्ध भगवान आत्मस्वभाव में सदा अवस्थित रहते हैं। वहाँ यही चारित्र है।

5. अक्षय स्थिति - आयुष्य कर्म के क्षय होने से कभी नाश न हो (जन्म - मरण रहित) ऐसी अनंत स्थिति प्राप्त होती है। सिद्ध की स्थिति की आदि है मगर अंत नहीं है, इससे सादि अनंत कहे जाते हैं।

6. अरुपिपन - नाम कर्म के क्षय होने से वर्ण, गंध, रस तथा स्पर्श रहित होते हैं, क्योंकि शरीर हो तभी वर्णादि होते हैं। मगर सिद्ध के शरीर नहीं है इससे अरूपी होते हैं।

7. अगुरुलघु - गोत्र कर्म के क्षय होने से यह गुण प्राप्त होता है, इससे भारी-हल्का अथवा ऊँच-नीच का व्यवहार नहीं रहता।

8. अनंतवीर्य - अंतराय कर्म का क्षय होने से अनंत दान, अनंत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग तथा अनंत वीर्य प्राप्त होता है। सिद्ध भगवान के ऐसी स्वाभाविक शक्ति रहती है कि जिससे लोक को अलोक और अलोक को लोक कर सकें। तथापि सिद्धों ने भूतकाल में कदापि ऐसा वीर्य स्फोट (शक्ति का प्रयोग) किया नहीं, वर्तमान में करते नहीं और भविष्य में कदापि करेंगे भी नहीं। क्योंकि उनको पुद्गल के साथ कोई संबंध नहीं होता। इस अनंतवीर्य गुण से वे अपने आत्मिक गुणों को जिस स्वरुप में है वैसे ही स्वरूप में अवस्थित रखते हैं। इन गुणों में परिवर्तन नहीं होने देते।

आचार्यजी के छत्तीस गुण

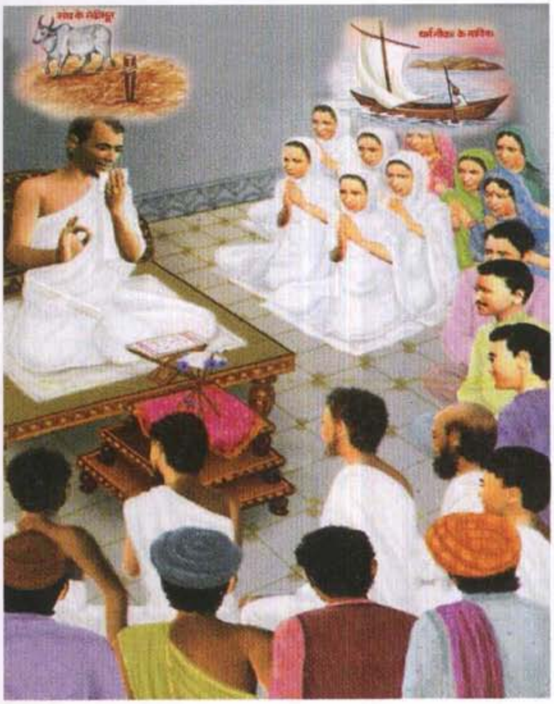

जो पांच आचार को स्वयं पाले और अन्य को पलावें तथा धर्म के नायक है, श्रमण-संघ में राजा समान है उनको आचार्य कहते हैं। आचार्य महाराज के छत्तीस गुण होते हैं।

1 से 5 - पाँच इन्द्रियों के विकारों को रोकने वाले अर्थात् 1. स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा-शरीर) 2. रसनेन्दिय (जीभ) 3. घ्राणेन्द्रिय (नाक) 4. चक्षुन्द्रिय (आंखें) 5. श्रोत्रेन्द्रिय (कान) इन पांच इन्द्रियों के 23 विषयों में अनुकूल पर राग और प्रतिकूल पर द्वेष न करें।

6 से 14 - ब्रह्मचर्य की नव गुप्तियों को धारण करने वाले अर्थात् शील (ब्रह्मचर्य) की रक्षा के उपायों को सावधानी से पालन करने वाले जैसे कि 1. जहाँ स्त्री, पशु अथवा नपुंसक का निवास हो वहाँ न रहे 2. स्त्री के साथ राग पूर्वक बातचीत न करें। 3. जहाँ स्त्री बैठी हो उस आसन पर न बैठे, उसके उठकर चले जाने के बाद भी दो घडी(48 मिनट) तक न बैठे। 4. स्त्री के अंगोंपांग को रागपूर्वक न देखें। 5. जहाँ स्त्री-पुरुष शयन करते हों अथवा काम-भोग की बातें करते हो वहाँ दीवार अथवा पर्दे के पीछे सुनने अथवा देखने के लिए न रहें। 6. ब्रह्मचर्य व्रत लेने पर साधु होने से पहले की हुई काम क्रीड़ा को विषय भोगों को याद न करे। 7. रस पूर्ण आहार न करें। 8. नीरस आहार करें पर भूख से अधिक न खाए 9. शरीर की शोभा, श्रृंगार, विभूषा न करें।

15 से 18 - चार कषायों का त्याग करने वाले। संसार की परंपरा जिससे बढे उसे कषाय कहते हैं। कषाय के चार भेद है - क्रोध (गुस्सा), मान (अभिमान), माया (कपट) और लोभ (लालच)।

19 से 23- पाँच महाव्रतों को पालनेवाले। महाव्रत बड़े व्रत को कहते हैं जो पालने में बहुत कठिन है। महाव्रत पाँच है - **1. प्राणातिपात** विरमण अर्थात् किसी जीव का वध न करना । **2. मृषावाद** विरमण अर्थात् चाहे जितना भी कष्ट सहन करना पड़े तो भी असत्य वचन नहीं बोलना। **3. अदत्तादान** विरमण अर्थात् मालिक के दिये बिना साधारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा मूल्यवान कोई भी वस्तु ग्रहण न करना। **4. मैथुन** विरमण - मन, वचन और काया से ब्रह्मचर्य का पालन करना। **5. परिग्रह** विरमण - कोई भी वस्तु का संग्रह न करना। वस्त्र, पात्र, धर्मग्रंथ, ओघा आदि संयम पालनार्थ उपकरण आदि जो - जो वस्तुएं अपने पास हों उन पर भी मोह - ममता नहीं करना।

24 से 28 - पाँच प्रकार के आचारों का पालन करने वाले। पाँच आचार यह है - 1. ज्ञानाचार - ज्ञान पढ़े और पढ़ावे, लिखे और लिखावें, ज्ञान भंडार करे और करावें तथा ज्ञान प्राप्त करने वालों को सहयोग दें। 2. दर्शनाचार - शुद्ध सम्यक्त्व को पाले और अन्य को सम्यक्त्व उपार्जन करावे। सम्यक्त्व से पतित होने वालों को समझा बुझाकर स्थिर करें। 3. चारित्राचार - स्वयं शुद्ध चारित्र को पालें, अन्य को चारित्र में दृढ करें और पालने वाले की अनुमोदना करें। 4. तपाचार - छः प्रकार के बाह्य तथा छः प्रकार के आभ्यंतर इस प्रकार बारह प्रकार से तप करें, अन्य को करावें तथा करने वाले की अनुमोदना करें। 5. वीर्याचार - धर्माचरण में अपनी शक्ति को छुपावे नहीं अर्थात् सर्व प्रकार के धर्माचरण करने में अपनी शक्ति को संपूर्ण रीति से विकसित करें।

29 से 36 - पांच समिति तथा तीन गुप्ति का पालन करने वाले । चारित्र की रक्षा के लिए पांच समिति और तीन गुप्ति इस आठ प्रवचन माता को पालने की आवश्यकता है। इस प्रकार है :-

1. ईया समिति - जब चले फिरे तो जीवों की रक्षा के लिए उपयोगपूर्वक चले अर्थात् चलते समय दृष्टि को नीचे रखकर मुख को आगे साढे तीन हाथ भूमि को देखकर चले।

2. भाषा समिति - निरवद्य - पापरहित और किसी जीव को दुःख न हो ऐसा वचन बोले।

3. एषणा समिति - वस्त्र, पात्र, पुस्तक, उपकरण आदि शुद्ध, विधिपूर्वक और निर्दोष ग्रहण करें

4. आदान-भांड-पात्र निक्षेपण समिति - जीवों की रक्षा के लिए वस्त्र, पात्र आदि जयणा पूर्वक ग्रहण करना और जयणा से रखना।

5. पारिष्ठापनिका समिति - जीव रक्षा के लिए जयणा पूर्वक मल, मूत्र, श्लेष्म आदि शुद्ध भूमि में परठें। इस प्रकार पांच समिति का पालन करें।

तीन गुप्ति- 1. मन गुप्ति - पाप कार्य के विचारों से मन को रोके अर्थात् आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान न करें।

2. वचन गुप्ति - दूसरों को दुःख हो ऐसा दूषित वचन नहीं बोले, निर्दोष वचन भी बिना कारण न बोलें।

3. काय गुप्ति - शरीर को पाप कार्य से रोके, शरीर को बिना प्रमार्जन किये न हिलावे-चलावे।

यह आचार्य के छत्तीस गुणों का संक्षिप्त वर्णन किया है।

उपाध्यायजी के पच्चीस गुण

जो स्वयं सिद्धांत पढे तथा दूसरों को पढावें और पच्चीस गणु युक्त हो उसे उपाध्याय कहते हैं। साधुओं में आचार्य जी राजा समान है और उपाध्यायजी प्रधान के समान है। उपाध्याय जी के पच्चीस गुण इस प्रकार है

11 अंगों तथा 12 उपांगों को पढे और पढावें। 1. चरण सत्तरी को और 1. करण सित्तरी को पालें।

1-11 अंग

1. आचारांग (आयारो), 2. सूत्रकृतांग (सूयगडों) 3. स्थानाङ्ग (ठाणं) 4. समवायाङ्ग (समवाओ) 5. व्याख्या प्रज्ञप्ति (विवाहपण्णती, भगवई) 6. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग (णायाधम्मकहाओ) 7. उपासकदशाङ्ग (उवासगदसाओ) 8. अन्तकृद्धशाङ्ग (अंतगदसाओं) 9. अणुत्तरौपपातिक दशा (अणुत्तरोववाइयदसाओ) 10. प्रश्न व्याकरण (पण्हावागरणाइं) 11. विपाक सूत्र (विवागसुयं)

12-23 उपांग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

12. औपपातिक (उववाई) 13. राजप्रश्नीय (रायपसेणियं) 14. जीवाभिगम (जीवाभिगमों) 15. प्रज्ञापना (पण्णवणा) 16. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जम्बूद्वीवपण्णत्ती) 17. चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंदपण्णत्ती) 18. सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरपण्णत्ती) 19. निरयावलिका (णिरयावलियाओ) 20. कल्पावतंसिका (कप्पवडसियाओ) 21. पुष्पिका (पुप्फियाओ) 22. पुष्पचूलिका (पुप्फचूलियाओ) 23. वृष्णिदशा (वण्हीदसाओ)

24. चरण सत्तरी - मुनि द्वारा सतत् पालन करने योग्य सत्तर (70) नियम चरण सत्तरी है।

25. करण सत्तरी - मुनि द्वारा नियत समय पर पालन करने योग्य तथा मूल गुणों की सुरक्षा करने वाले आचार संबंधी सत्तर (70) नियम करण सत्तरी है।

इस प्रकार उपाध्यायजी के 25 गुण होते हैं।

साधु महाराज के 27 गुण

जो मोक्षमार्ग को साधने का प्रयत्न करें, सर्वविरति चारित्र लेकर सत्ताईस गुण युक्त हों, उसे साधु कहते हैं। साधु महाराज के 27 गुण हैं।

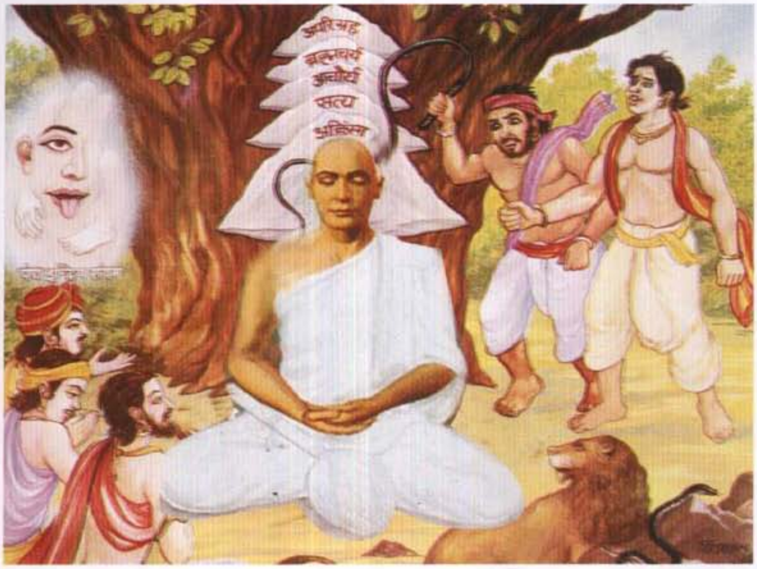

1 से 6 - 1. प्राणातिपात विरमण 2. मृषावाद विरमण 3. अदत्तादान विरमण 4. मैथुन विरमण 5. और परिग्रह विरमण ये पांच महाव्रत तथा 6. रात्रि भोजन का त्याग - इन छः व्रतों का पालन करें।

7 से 12 - 7. पृथ्वीकाय 8. अप्काय 9. तउकाय 10. वायुकाय 11. वनस्पतिकाय और 12. त्रसकाय इन छः काय के जीवों की रक्षा करें।

13 से 17 - अपनी पांच इन्द्रियों के विषय-विकारों को रोके

18 से 27 - 18. लोभ निग्रह 19. क्षमा 20. चित्त की निर्मलता 21. शुद्ध रीति से वस्त्रादि की पडिलेहणा 22. संयम योग से प्रवृत्ति अर्थात् पांच समिति और तीन गुप्ति का पालन करना एवं निद्रा, विकथा तथा अविवेक का त्याग करना, 23. चित्त को गलत विचारों से रोकना (अकुशल चित्त निरोध) 24. अकुशल वचन का निरोध 25. अकुशल काया का निरोध (कुमार्ग में जाने से रोकना) 26. सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि बाईस परिषहों को सहन करना और 27. मरणादि उपसर्गों को सहन करना। इस प्रकार साधु उपर्युक्त सत्ताईस गुणों का पालन करें।

इस प्रकार :-

अरिहंत के 12, सिद्ध के 8, आचार्य के 36, उपाध्याय के 25 तथा साधु के 27 गुण, इन सब को मिलाने से पंच परमेष्ठि के 108 गुण हुए।

नवकारवाली (माला) के 108 मनके रखने का एक हेतु यह भी है कि इससे नवकार मंत्र का जाप करते हुए पंचपरमेष्ठि के 108 गुणों का स्मरण, मनन, चिंतन किया जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. पंचिंदिय सुत्तं (गुरु-स्थापन-सूत्र)

मूल-गाथा

पंचिंदिय-संवरणो, तह नवविह-बंभचेर-गुत्ति-धरो।
चउविह-कसाय-मुक्को, इअ अटारससगुणेहिं संजुत्तों ।।1।।
पंच-महव्वय-जुत्तो, पंचविहायार-पालण-समत्थो ।
पंच-समिओ ति-गुत्तो, छत्तीसगुणो गुरु मज्झ ।।2।।

सूत्र-परिचय

समस्त धार्मिक क्रियाएं गुरु की आज्ञा ग्रहणकर उनके समक्ष करनी चाहिए, परन्तु जब ऐसा संभव (योग) न हो और धार्मिक क्रिया करनी हो, तब ज्ञान, दर्शन और चारित्र के उपकरणों में गुरु की स्थापना करके काम शुरू किया जा सकता है। ऐसी स्थापना करते समय इस सूत्र का उपयोग होता है।

मूल	**अर्थ**
पंचिंदिय	पांच इन्द्रियों को
संवरणो	वश में करने वाले
तह	तथा
णवविहबंभचेर	नव प्रकार के ब्रह्मचर्य की
गुत्तिधरो	गुप्तियों को धारण करने वाले
चउव्विह	चार प्रकार के
कसायमुक्को	कषाय से मुक्त
इअ	इन
अठारस गुणेहिं	अठारह गुणों से
संजुत्तो	संयुक्त, सहित
पंचमहव्वयजुत्तों	पांच महाव्रतों से युक्त
पंचविहायार	पांच प्रकार का आचार
पालण समत्थो	पालने में समर्थ
पंच-समिओ	पांच समिति वाले
तिगुत्तो	तीन गुप्ति वाले
छत्तीस-गुणों	(इस प्रकार) छत्तीस गुणों वाले साधु
मज्झ	मेरे
गुरु	गुरु हैं।

भावार्थ - पांच इन्द्रियों के विषय विकारों को रोकने वाले, ब्रह्मचर्य व्रत की नौ प्रकार की गुप्तियों को नौ वाड़ों को धारण करने वाले, क्रोध आदि चार प्रकार के कषायों से मुक्त, इस प्रकार अठारह गुणों से संयुक्त ।।1।।

अहिंसा आदि पांच महाव्रतो से युक्त, पांच आचार के पालन करने में समर्थ, पांच समिति और तीन गुप्ति के धारण करने वाले अर्थात् उक्त छत्तीस गुणों वाले श्रेष्ठ साधु मेरे गुरु हैं ।।2।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

18 निवृत्तिगुण	18 प्रवृत्तिगुण
5 इन्द्रिय विषय	5 महाव्रत
9 प्रकार की ब्रह्मचर्य वाड	5 आचार
4 कषाय	5 समिति
	3 गुप्ति

स्थापनाचार्यजी की तेरह बोल की पडिलेहणा (शुद्ध स्वरुप)

1. शुद्ध स्वरूप धारें 2. ज्ञान 3. दर्शन 4. चरित्र 5. सहित सद्धहणा-शुद्धि 6. प्ररूपणा-शुद्धि 7. स्पर्शना-शुद्धि 8. सहित पांच आचार पालें 9. पलावें 10. अनुमोदें 11. मनो-गुप्ति 12. वचन-गुप्ति 13. काया-गुप्ति आदरें ।

3.खमासमण सूत्र

इच्छामि खमासमणों ! वंदिउं, जावणिज्जाए निसीहिआए मत्थएण वदामि ।

शब्दार्थ

इच्छामि - मैं चाहताहूं।

खमासमणों - हे! क्षमाश्रमण-क्षमाशील तपस्विन् गुरु महाराज

वंदिउं - वन्दन करने के लिए।

जावणिज्जाए - शक्ति के अनुसार अथवा सुखसाता पूछकर।

निसीहिआए - सब पाप कार्यों का निषेध करके अथवा अन्य सब कार्यों को छोड़कर, अथवा अविनय आशातना की क्षमा मांगकर।

मत्थएण - मस्तक से, मस्तक झुकाकर ।

वंदामि - मैं वंदन करता हूं।

भावार्थ : हे क्षमाशील तपस्विन् गुरु महाराज! आपका मैं सुखसाता पूछकर अपनी शक्ति के अनुसार अन्य सब कार्यों का निषेध करके, सब पाप-कार्यों से निवृत्त होकर तथा अविनय आशातना की क्षमा मांगकर वंदन करना चाहता हूं, और उसके अनुसरा मस्तक (आदि पांचो अंग) झुका (और मिला) कर मैं वंदन करता हूं।

4. सुगुरु को सुखशांति-पृच्छा

इच्छकार । सुह-राई ? (सुह देवसि?) सुख-तप शरीर-निराबाध? सुख-संयम-यात्रा निर्वहते हो जी। स्वामिन् साता है जी? आहार पानी का लोभ देना जी।

शब्दार्थ

इच्छकार - हे गुरु महाराज! आपकी इच्छा इच्छा हो तो मैं पूछूं।

सुह-राई - आप की रात सुखपूर्वक बीती होगी?

(सुह-देवसि) - आप का दिन सुखपूर्वक बीता होगा?

सुख तप - आपकी तपश्चर्या सुखपूर्वक पूर्ण हुई होगी?

1. यहां गुरु उत्तर देवे कि देव गुरु पसाय। 2. वर्तमान योग ।

शरीर-निराबाध - आपका शरीर बाधा पीड़ा रहित होगा।

सुख-संयम-यात्रा निर्वहते हो जी? आप चारित्र का पालन सुखपूर्वक कर रहे होंगे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वामिन् - हे गुरु महाराज!
साता है जी - शांति है जी।
नोट - आगे का अर्थ स्पष्ट है।

भावार्थ : (शिष्य गुरु को सुखसाता पूछता है वह इस प्रकार :-)
हे गुरु महाराज! आपकी इच्छा हो तो मैं पूछूं? आप की रात सुखपूर्वक बीत होगी? (आप का दिन सुखपूर्वक बीता होगा?) आपकी तपश्चर्या सुखपूर्वक पूर्ण हुई होगी? आपके शरीर को किसी प्रकार की बाधा-पीड़ा न हुई होगी? अथवा शरीर निरोग होगा? और इससे आप चारित्र का पालन सुखपूर्वक कर रहे होंगे? हे गुरु महाराज! आपको सब प्रकार की शांति है?
मेरे यहां पधार कर आहार पानी ग्रहण कर मुझको धर्मलाभ देने की कृपा करें। यहां ध्यान रहे कि सुहराई इत्यादि पांचों का उच्चारण प्रश्न के रुप में होवें। मध्यान्ह के पहले सुहराई, और बाद में सुह देवसी बोले।

5. अब्भुट्ठिओं (गुरु क्षामणा) सूत्र

इच्छाकारेण संदिसह भगवन्। अब्भुट्ठिओहं अब्भिंतर-देवसिअं खामेउं। (अब्भिंतर-राइयं खामेउं) इच्छं, खामेमि देवसिअं (खामेमि राइयं)।

जं किंचि अपत्तिअं, परपत्तिअं भत्ते, पाणे, विणए, वेयावच्चे, आलावे, संलावे, उच्चासणे, समासणे, अंतरभासाए, उवरिभासाए।

जं किंचि मज्झ विणय-परिहिणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, तस्म मिच्छामी छुक्कडं।

शब्दार्थ

इच्छाकारेण संदिसह - इच्छापूर्वक आज्ञा प्रदान करें
भगवन् - हे गुरु महाराज !
अब्भुट्ठिओंहं - मैं उपस्थित हुआ हूं।
अब्भिंतर-देवसिअं - दिन में किये हुए अतिचारों को।
अब्भिंतर-राइअं - रात में किये हुए अतिचारों को।
खामेउं - खमाने के लिये। क्षमा मांगने के लिए।
इच्छं - चाहता हूं। आपकी आज्ञा प्रमाण है।
खामेमि - मैं क्षमा मांगता हूं-खमाता हूं।
देवसिअं - दिवस संबंधी अतिचार।
ज किंचि - जो कुछ।
अपत्तिअं - अप्रीतिकारक
परपत्तिअं - विशेष अप्रीतिकारक।
भत्ते - आहार में।
विणये - विनय में।
वेयावच्चे -वैयावृत्य में, सेवा सुश्रूषा में।
आलावे - बोलने में।
संलावे - बातचीत करने में।
उच्चासणे - (गुरु से) ऊंचे आसन पर बैठने में। ऊंचा आसन रखने में ।
समासणे - बराबर के आसन पर बैठने में।
अंतरभासाए - भाषण के बीच बोलने से।
उवरिभासाए - भाषण के बाद बोलने में।
जं किंचि - जो कोई अतिचार।
मज्झ - मुझ से।
विणय-परिहीणं- अविनय-आशातना।
सुहुमं वा बायरं वा - सूक्ष्म अथवा स्थूल।
तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि - जिसको आप जानते हैं मैं नहीं जानता।
तस्स - उसका।
मि - मेरे लिये।
दुक्कडं - पाप।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाणे - पानी में।	मिच्छा - मिथ्या हो।

भावार्थ : हे गुरु महाराज! आप इच्छापूर्वक आज्ञा प्रदान करो। मैं दिन (रात्रि) में किये हुए अपराधों (अतिचारों) की क्षमा मांगने के लिये आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूं।

आपकी आज्ञा प्रमाण है - दिन संबंधी अतिचारों की (रात्रि संबंधी अतिचारों की) क्षमा मांगता हूं :-

आहार में, पानी में, विनय में, वैयावृत्य में (सेवासुश्रुषा में) बोलने में, बातचीत करने में, आप से ऊंचे आसन पर बैठने में, समान आसन पर बैठने में, बीच में बोलने में, भाषण के बाद बोलने में, जो कुछ अप्रीति अथवा विशेष अप्रीतिकारक व्यवहार द्वारा जो कोई अत्याचार लगा हो आप ने जानते हो अथवा मुझ से जो कोई आपकी सूक्ष्म या स्थूल (अल्प या अधिक) अविनय-आशातना हुई जो चाहे वे मुझे ज्ञात हो आप न जानते हो, आप जानते हो मैं नहीं जानता हूं, आप और मैं दोनों जानते हो, अथवा मैं और आप दोनों न जानते हों। वे मेरे सब दुष्कृत्य मिथ्या हों अर्थात् उनकी मैं माफी चाहता हूं।

6. गुरु वन्दन सूत्र (तिक्खुत्तो का पाठ)

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, वंदामि, णमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि ।

मूल	**अर्थ**
तिक्खुत्तो	तीन बार
आयाहिणं	दक्षिण ओर से
पयाहिणं	प्रदक्षिणा
करेमि	करता हूं
वंदामि	गुणग्राम (स्तुति) करता हूं
णमंसामि	नमस्कार करता हूं
सक्कारेमि	सत्कार करता हूं
सम्माणेमि	सम्मान करता हूं
कल्लाणं	कल्याण रूप
मंगलं	मंगल रूप
देवयं	धर्मदेव रूप
चेइयं	ज्ञानवंत अथवा सुप्रशस्त मन के हेतु रूप की
पज्जुवासामि	पर्युपासना (सेवा) करता हूं
मत्थएण	मस्तक नमा कर
वंदामि	वन्दना करता हूं

भावार्थ - हे पूज्य! दोनों हाथ जोड़कर दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा करता हूं। आपका गुणग्राम (स्तुति) करता हूं। पंचांग (दो हाथ, दो घुटने और एक मस्तक-ये पांच अंग) नमा कर नमस्कार करता हूं। आपका सत्कार करता हूं। आप को सम्मान देता हूं। आप कल्याण रूप हैं, मंगलरूप हैं, आप धर्म देव रूवरूप हैं, ज्ञानवन्त हैं अथवा मन को प्रशस्त बनाने वाले हैं। ऐसे आप गुरु महाराज की पर्युपासना (सेवा) करता हूं और मस्तक नमा कर आपको वन्दना करता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महापुरुष की जीवन कथाएं

* गुरु गौतम स्वामी
* महासती चंदनबाला
* पुणिया श्रावक
* सुलसा श्राविका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु गौतम स्वामी

मगध देश में गोबर नामक गांव में वसुभूति नामक एक गौतम गोत्री ब्राह्मण रहता था। उसे पृथ्वी नामक स्त्री से इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति नामक तीन पुत्र हुए।

अपावा नगरी में सोमिल नामक एक धनाढय ब्राह्मण उस समय के ब्राह्मणों में महाज्ञानी माने जाते अन्य आठ द्विजों को भी यज्ञ करने बुलाया था। सबसे बड़े इन्द्रभूति गौतम गोत्री होने से गौतम नाम से भी पहचाने जाते थे।

यज्ञ चल रहा था, उस समय वीर प्रभु को वंदन की इच्छा से आते देवताओं को देखकर गौतम ने अन्य ब्राह्मणों को कहा, 'इस यज्ञ का प्रभाव देखो! हमारे मंत्रों से आमंत्रित देवता प्रत्यक्ष यहां यज्ञ में आ रहे हैं।' उस समय यज्ञ का बाडा छोड़कर देवताओं को समवसरण में जाता देखकर लोग कहने लगे, हे नगरजनों! सर्वज्ञ प्रभु उद्यान में पधारे हैं। उनकी वंदना करने के लिये ये देवता हर्ष से जा रहे हैं। 'सर्वज्ञ' ऐसे अक्षर सुनते ही मानो किसी ने वज्रपात किया हो उस प्रकार इन्द्रभूति कोप कर बोले, अरे! धिक्कार! धिक्कार! मरु देश के मनुष्य जिस प्रकार आम्र छोड़कर करील के पास जावे वैसे लोग मुझे छोड़कर उस पाखंडी के पास जाते हैं। क्या मेरे से अधिक कोई अन्य सर्वज्ञ है? शेर के सामने अन्य कोई पराक्रमी होता ही नहीं। कदापि मनुष्य तो मूर्ख होने से उनके पास जाएं तो भले जाएं मगर ये देवता क्यों जाते हैं? इससे उस पाखंडी का दंभ कुछ महान लगता है। इस प्रकार अहंकार से बोलता हुआ गौतम पांच सौ शिष्यों के साथ समवसरण में सुरनरों से घिरे हुए श्री वीर प्रभु जहां विराजमान थे वहां आ पहुंचा। प्रभु की समृद्धि और चमकता तेल देखकर आश्चर्य पाकर इन्द्रभूति बोल उठा, 'यह क्या?' इतने में तो 'हे गोतम! इन्द्रभूति आपका स्वागत है।' जगद्गुरु ने अमृत जैस मधुर वाणी में कहा। यह सुनकर गौतम सोच में डूबा कि 'क्या यह मेरे गोत्र और नाम को भी जानता है? जानता ही होगा न, मुझ जैसे जगप्रसिद्ध मनुष्य को कौन नहीं जानेगा? परंतु यदि मेरे हृदय में रहे संशय को वह बताये और उसे अपनी ज्ञान संपत्ति से छेद डाले तो वे सच्चे आश्चर्यकारी हैं, ऐसा मैं मान लूं।

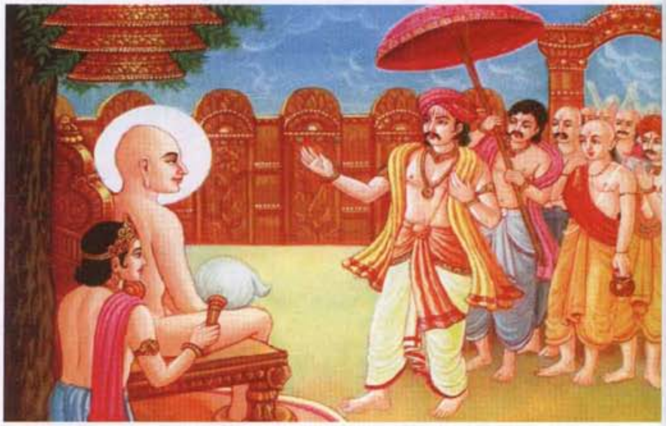

इस प्रकार हृदय में विचार करते ही ऐसे संशयधारी इन्द्रभूति को प्रभु ने कहा, हे विप्र! जीव हैं कि नहीं? ऐसा तेरे हृदय में संशय है, परंतु है गौतम! जीव है, वह चित्त, चैतन्य विज्ञान और संज्ञा वगैरह लक्षणों से जाना जा सकता है। यदि जीव न हो तो पुण्य-पाप का पात्र कौन? और तुझे यह यज्ञ-दान वगैरह करने का निमित्त भी क्या? इस प्रकार के प्रभु महावीर के चरणों में नमस्कार करके बोला, हे स्वामी! ऊंचे वृक्ष का नाप लेने वामन पुरुष की भांति मैं दुर्बुद्धि से आपकी परीक्षा लेने यहां आया था। हे नाथ! मैं दोषयुक्त हूं, फिर भी आपने मुझे भली प्रकार से प्रतिबोध दिया है। तो अब संसार से विरक्त बने हुए मुझको दीक्षा दीजिये। अपने प्रथम गणधर बनेंगे ऐसा जानकर प्रभु ने उनको पांच सौं शिष्यों के साथ स्वयं दीक्षा दी। उस समय कुबेर देवता ने चारित्र धर्म के उपकरण ला दीये और पांच सौ शिष्यों के साथ इन्द्रभूति ने देवताओं ने अर्पण किये हुए धर्म के उपकरण ग्रहण किये।

इन्द्रभूति की तरह अग्निभूति वगैरह अन्य दस द्विजों ने बारी-बारी से आकर अपना संशय प्रभु महावीर से दूर किया, इसलिये अपने शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की।

वीर प्रभु विहार करते करते चम्पानगरी पधारे। वहां साल नामक राजा तथा महासाल नामक युवराज प्रभु की वंदना करने आये। प्रभु की देशना सुनकर दोनों प्रतिबोध पाये। उन्होंने अपने भानजे गागली का राज्याभिषेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया और दोनों ने वीर प्रभु से दीक्षा ग्रहण की। प्रभु की आज्ञा लेकर गौतम साल और महासाल साधू के साथ चम्पानगरी गये। वहां गागली राजा ने भक्ति से गौतम गणधर की वंदना की। वहां देवताओं के रचे सुवर्ण कमल पर बैठकर चतुर्ज्ञानी गौतम स्वामी ने धर्मदेशना दी। वह सुनकर गागली ने प्रतिबोध पाया तो अपने पुत्र को राज्यसिंहासन सौंपकर अपने माता-पिता सहित उन्होंने गौतम स्वामी से दीक्षा ली। ये तीन नये मुनि और साल, महासाल, ये पांच जन गुरु गौतम स्वामी के पीछे-पीछे प्रभु महावीर की वंदना करने जा रहे थे। मार्ग से शुभ भावना से उन पांचों को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। सर्वज्ञ प्रभु महावीर स्वामी जहां विराजमान थे वहां आकर प्रभु की प्रदक्षिणा की और गौतम स्वामी को प्रणाम किया, तीर्थंकर को झुककर वे पांचों केवली की पर्षदा में चले। तब गौतम ने कहा, 'प्रभु की वंदना करो।' प्रभु बोले, 'गौतम! केवली की आशातना मत करो।' तत्काल गौतम ने मिथ्या दुष्कृत देकर उन पांचों से क्षमापना की।

इसके बाद गौतम मुनि खेद पाकर सोचने लगे कि 'क्या मुझे केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होगा? क्या मैं इस भव में सिद्ध नहीं बनूंगा।' ऐसा सोचते सोचते प्रभु ने देशना में एक बार कहा हुआ याद आया कि 'जो अष्टापद पर अपनी लब्धि से जाकर वहां स्थित जिनेश्वर की वंदना करके एक रात्रि वहां रहे वह उसी भव में सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।' ऐसा याद आते ही गौतम स्वामी ने तत्काल अष्टापद पर स्थित जिनबिंबो के दर्शन करने जाने की इच्छा व्यक्त की। वहां भविष्य में तापसों को प्रतिबोध होने वाला है। यह जानकर प्रभु ने गौत्म को अष्टापद तीर्थ, तीर्थंकरों की वंदना के लिए जाने की आज्ञा दी। इससे गौतम बड़े हर्षित हुए और चरणलब्धि से वायु समान वेग से क्षण भर में अष्टापद के समीप आ पहुंचे। इसी अरसे में कौडिन्य, दत्त और सेवाल वगैरह पन्द्रह सौ तपस्वी अष्टापद की प्रथम सीढी तक ही आये थे। दूसरे पांच सौ तापस छठ तप करके सूखे कदापि की पारणा करके दूसरी सीढी तक पहुंचे थे। तीसरे पांच सौ तापस अट्ठम का तप करके सूखी काई का पारणा करके तीसरी सीढी तक पहुंचे थे। वहां से ऊंचे चढ़ने के लिए अशक्त थे। उन तीनों के समूह प्रथम, द्वितीय और तृतीय सीढी पर लटक रहे थे। इतने में सुवर्ण समान कांति वाले और पुष्ट आकृतिवाले गौतम को आते हुए उन्होंने देखा। उनको देखकर वे आपस में बात करने लगे कि हम कृश हो चुके हैं फिर भी यहां से आगे नहीं चढ़ सक रहे हैं, तो यह स्थूल शरीरवाला मुनि कैसे चढ़ सकेगा? इस तरह से बातचीत कर रहे थे कि गौतम स्वामी सूर्य किरण का आलंबन लेकर इस महागिरि पर चढ़ गये और पल भर में देव की भांति उनसे अदृश्य हो गये। तत्पश्चात् वे परस्पर कहने लगे, 'इन महर्षि के पास कोई महाशक्ति है, यदि वे यहां वापस आयेंगे तो हम उनके शिष्य बनेंगे। ऐसा निश्चय करके वे तापस एक ध्यान में उनके वापस लौटने की राह देखने लगे।'

अष्टापद पर्वत पर चौबीस तीर्थंकरों के अनुपम बिंबो की उन्होंने भक्ति से वंदना की। तत्पश्चात् चैत्य में से निकलकर गौतम गणधर एक बड़े अशोक वृक्ष के नीचे बैठे। वहां अनेक सुर-असुर और विद्याधरो ने उनकी वंदना की। गौतम गणधर ने उनके योग्य देशना दी। प्रसंगोपात उन्होंने कहां, 'साधुओं के शरीर शिथिल हो गये होते हैं, और वे ग्लानि पा जाने से जीवसत्ता द्वारा काम्पते काम्पते चलने वाले हो जाते हैं।' उनके वचन सुनकर वैश्रवण (कुबेर) उन शरीर की स्थूलता देखकर, ये वचन उनमें ही अघटित जानकर जरा सा हंसा। उस समय मनः पर्यवज्ञानी इन्द्रभूति उनके मन का भाव जानकर बोले, 'मुनिपने में शरीर की कृशता का कोई प्रमाण नहीं परंतु शुभध्यानपने में आत्मा का निग्रह करना ही प्रमाण है।' इस बात के समर्थन में उन्होंने श्री पुंडरीक और कंडरीक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का चरित्र सुनाकर उनका संशय दूर किया।

' इस प्रकार गौतम स्वामी ने कहा हुआ पुंडरीक-कंडरीक का अध्ययन समीप में बैठे वैश्रवण देव ने एकनिष्ठा से श्रवण किया और उसने सम्यक्त्व प्राप्त किया।

इस प्रकार देशना देकर रात्रि वहां व्यतीत करके गौतम स्वामी प्रातःकाल में उस पर्वत पर से उतरने लगे, राह देख रहे तापस उनको नजर आये। तापसों ने उनके समीप आकर, हाथ जोड़कर कहा, 'हे तपोनिधि महात्मा! हम आपके शिष्य बनते हैं, आप हमारे गुरु बनें।' तत्पश्चात् उन्होंने बड़ा आग्रह किया तो गौत्म ने उन्हें वही पर दीक्षा दी। देवताओं ने तुरन्त ही उनको यतिलिंग दिया। तत्पश्चात् वे गौतम स्वामी के पीछे पीछे प्रभु महावीर के पास जाने के लिए चलने लगे।

मार्ग में कोई गांव आने पर भिक्षा का समय हुआ तो गौतम गणधर ने पूछा, 'आपको पारणा करने के लिये कौनसी इष्ट वस्तु लाऊं।' उन्होंने कहा, 'पायस लाना।' गौतम स्वामी अपने उदर का पोषण हो सके उतनी खीर एक पात्र में लाये। तत्पश्चात् गौतम स्वामी कहने लगे, 'हे महर्षियों! सब बैठ जाओ और पायसान्न से सर्व पारणा करें।' तब सबको मन में ऐसा लगा कि 'इतने पायसान्न से क्या होगा? यद्यपि हमारे गुरु की आज्ञा हमें माननी चाहिए।' ऐसा मानकर सब एक साथ बैठ गये। तत्पश्चात् इन्द्रभूति ने अक्षीण महानस लब्धि द्वारा उन सर्व को पेट भर कर पारणा करवाया और उन्हें अचरज में छोड़कर स्वयं आहार करने बैठे। जब तापस भोजन करने बैठे थे तब, 'हमारे पूरे भाग्ययोग से श्री वीर परमात्मा जगद्गुरु हमें धर्मगुरु के रूप में प्राप्त हुए हैं व पितातुल्य बोध करने वाले मुनि भी मिलना दुर्लभ है, इसलिये हम सर्वथा पुण्यवान है।' इस प्रकार की भावना करने से शुष्क काई भक्षी पांच सौं तापसों को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। दत्त वगैरह अन्य पांच सौ तापसों को दूर से प्रभु के प्रातिहार्य को देखकर उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त हुआ। और कौडीन्य वगैरह बाकी के पांच सौ तापसों को दूर से भगवंत के दर्शन होते ही केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने श्री वीर प्रभु की प्रदक्षिणा की और वे केवली की सभा की ओर चले। गौतम स्वामी ने कहां, 'इन वीर प्रभु की वंदना करो।' प्रभु बोले, गौतम! केवली की आशातना मत करो। गौतम स्वामी ने तुरन्त ही मिथ्या दुष्कृत देकर उनसे क्षमापना की। उस समय गौतम ने पुनः सोचा, 'जरूर मैं इस भव में सिद्धि प्राप्त करूंगा। क्योंकि में गुरुकर्मी हूं। इन महात्माओं को धन्य है कि जो मुझसे दीक्षित हुए परंतु जिनको क्षण भर में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।' ऐसी चिंता करते हुए गौतम के प्रति श्री वीर प्रभु बोले, 'हे गौतम! तीर्थंकरों का वचन सत्य या अन्य का?' गौतम ने कहा 'तीर्थंकरों का' तो प्रभु बोले, अब अधैर्य रखना मत। गुरु का स्नेह शिष्यों पर द्विदल पर के छिलके समान होता है। वह तत्काल दूर हो जाता है और गुरु पर शिष्य का स्नहे है तो तुम्हारी तरह ऊन की कडाह जैसा दृढ है। चिरकाल के संसर्ग से हमारे पर आपका स्नेह बहुत दृढ हुआ है। इस कारण आपका केवलज्ञान रूक गया है। जब उस स्नेह का अभाव होगा तब केवल ज्ञान जरूर पाओगे। 'प्रभु से दीक्षा लेने के 30 वर्ष के बाद एक दिन प्रभु ने उस रात्रि को अपना मोक्ष ज्ञात करके सोचा, 'अहो! गौतम को मेरे पर अत्यंत स्नेह है और वही उनको केवलज्ञान प्राप्ति में रूकावट बन रहा है, इस कारण मुझे उस स्नेह को छेद डालना चाहिये।' इसलिए उन्होंने गौतम स्वामी को बुलाकर कहा, 'गौतम! यहां से नजदीक के दूसरे गांव में देवशर्मा नामक ब्राह्मण है। वह तुमसे प्रतिबेध पायेगा, इसलिये आप वहां जाओ।' यह सुनकर 'जैसी आपकी आज्ञा' ऐसा कहकर गौतम स्वामी प्रभु को वंदन करके वहां गये और प्रभु का वचन सत्य किया, अर्थात् देवशर्मा को प्रतिबोधित किया। कार्तिक मास की अमावस्या के दिन पिछली रात्रि को चन्द्र स्वाति नक्षत्र में आते ही जिन्होंने छठ का तप किया है वे वीरप्रभु अंतिम प्रधान नामक अध्ययन कहने लगे। उस समय आसन कम्प से प्रभु का मोक्ष समय जानकर सुर और असुर के इन्द्र परिवार सहित वहां आये। शक्रेन्द्र ने प्रभु को हाथ जोड़कर संभ्रम के साथ इस प्रकार कहा, 'नाथ! आपके गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान हस्तोत्तरा नक्षत्र में हुए है, इस समय स्वाति नक्षत्र में मोक्ष होगा परंतु आपकी जन्म राशि पर भस्मग्रह संक्रांत होने वाला है, जो आपके संतानों (साधु-साध्वी) को दो हजार वर्ष तक बाधा उत्पन्न करेगा, इसलिए वह भस्मक ग्रह आपके जन्म नक्षत्र संक्रमित हो तब तक आप राह देखे, इस कारण प्रसन्न होकर पल भर के लिए आयुष्य बढ़ा लो जिससे दुष्ट ग्रह का उपशम हो जावे।' प्रभु बोले, ' हे शक्रेन्द्र! आयुष्य बढ़ाने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है।' ऐसा कहकर समुच्छित क्रिय चौथे शुक्ल ध्यान को धारण किया और यथा समय ऋजु गति से ऊर्ध्वगमन करके मोक्ष प्राप्त किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री गौतम गणधर देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध प्राप्त कराकर वापिस लौटे, मार्ग से देवताओं की वार्ता से प्रभु के निर्वाण के समाचार सुने और एकदम भड़क उठे और बड़ा दुःख हुआ। प्रभु के गुण याद करके 'वीर! हो वीर!' ऐसे बिलबिलाहट के साथ बोलने लगे, और अब मैं किसे प्रश्न पूछूंगा? मुझे कौन उत्तर देगा? अहो प्रभु! आपने यह क्या किया? आपके निर्वाण समय पर मुझे क्यों दूर किया? क्या आपको ऐसा लगा कि यह मुझसे केवलज्ञान की मांग करेगा? बालक बेसमझ से मां के पीछे पड़े वैसे ही मैं क्या आपका पीछा करता? परंतु हां प्रभु! अब मैं समझा। अब तक मैंने भ्रांत होकर निरोगी और निर्मोही ऐसे प्रभु में राग और ममता रखी। ये राग और द्वेष तो संसार भ्रमण का हेतु है। उनका त्याग करवाने के लिए ही परमेष्ठी ने मेरा त्याग किया होगा। ममता रहित प्रभु पर ममता रखने की भूल मैंने की क्योंकि मुनियों को तो ममता में ममत्व रखना युक्त नहीं हैं। इस प्रकार शुभध्यान परायण होते ही गौतम गणधर क्षपक श्रेणी में पहुंचे और तत्काल घाति कर्म का क्षय होते ही उनको केवलज्ञान प्राप्त हुआ। बारह वर्ष केवलज्ञान पर्याय के साथ बरानवे(92) वर्ष की उम्र में राजगृही नगरी में एक माह का अनशन करके सब कर्मों का नाश करते हुए अक्षय सुखवाले मोक्षपद को प्राप्त किया।

महासती चन्दनबाला

ईसा से लगभग 600 वर्ष पूर्व चम्पानगरी में दधिवाहन राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम धारिणी व पुत्री का नाम वसुमति था। एक बार शत्रु राजा शतानिक ने चम्पानगरी पर आक्रमण कर दिया। शत्रु सैनिकों ने चम्पानगरी में लूटपाट मचाना शुरु कर दिया। आकस्मिक आक्रमण का मुकाबला नहीं कर पाने की स्थिति होने से दधिवाहन राजा जंगल में चले गये। शत्रु सेना के एक सारथी ने रानी धारिणी व वसुमति का अपहरण कर लिया। जब वह एकान्त जंगल में पहुंचा तो उसने अपनी कुत्सित भावना रानी के सामने प्रकट की। किन्तु रानी ने अपने शील की रक्षा के लिये जीभ खींचकर प्राण त्याग दिये। यह देखकर असहाय वसुमति का हृदय रो पड़ा और रथी को दृढ़ शब्दों में कहा-खबरदार! जो मुझे छुआ। अगर मेरे हाथ लगाया तो मैं भी माता के समान प्राण दे दूंगी। सारथी ने विश्वास दिलया कि वह वसुमति के साथ बेटी के समान व्यवहार करेगा। वह वसुमति को अपने घर ले गया, पर उसकी पत्नि उसे देखते की क्रुद्ध हो उठी व उससे झगड़ने लगी तब सारथी ने उसे बेचने का निश्चय किया।

सारथी ने राजकुमारी को कोशाम्बी नगरी के बाजार में बेचने हेतु चौराहे पर खड़ा कर दिया। कोशाम्बी के सेठ धनवाह ने मुंह मांगा दाम देकर वसुमति को खरीद लिया। उसके कोई संतान नहीं थी। अतः सेठ वसुमति को अपनी पुत्री के समान स्नेह से रखने लगा। वह स्नहे से उसे 'चन्दना' कहकर पुकारता था, तभी से वसुमति का नाम **'चन्दनबाला'** समझा जाने लगा।

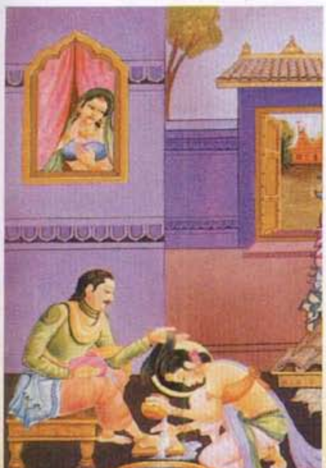

सेठजी की स्त्री मूला के मन में संदेह हुआ कि कहीं सेठजी इस चन्दना से शादी न कर लें। एक दिन सेठ बाहर से आये थे। पैर धूल से भरे थे। नौकर कोई मौजूद नहीं था। विनयी चन्दनबाला स्वयं पानी लेकर दौड़ी और सेठ के पैर धोने लगी। उस समय उसकी चोटी छूट गई। चन्दनबाला के लम्बे और काले बाल कीचड़ से न भर जाएं, इस विचार से सेठ ने अपनी छड़ी से बाल ऊपर कर दिये। चन्दनबाला जब खड़ी हुई तो स्नेह से उसकी चोटी बांध दी। चन्दना की चोटी बांधते सेठ को मूला ने देख लिया। फिर तो पूछना ही क्या था! उसकी आशंका पक्की हो गई। अगर सेठ से उसी समय पूछ लिया होता तो सेठानी को वहम नहीं होता। किन्तु जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। वहमी मनुष्य विचार नहीं कर सकता।

मूला ईर्ष्या की आग में चलने लगी। एक बार सेठजी कहीं बाहर गये हुए थे। सेठानी तो ऐसे अवसर की ताक में थी। उसने चन्दनबाला का सिर मूंड दिया, हाथों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां डालकर एक अंधेरी कोठरी में बंद कर दिया और अपने पीहर चली गई। तीन दिन पश्चात् जब सेठीजी घर लौटे तो उन्होंने चंदनबाला को आवाज दी। तीन दिन की भूखी-प्यासी चंदना ने शांति से कहां-पिताजी में यहां पर हूं। सेठजी उसकी यह दशा देखकर बड़े दुःखी हुए। वे भोजन के लिये घर में खाद्य पदार्थ ढूंढने लगे, किन्तु सिवाय उड़द के बाकुले के कुछ भी नहीं मिला। सेठजी ने सूप में उड़द रखकर चन्दना को खाने के लिये देकर, स्वयं बेड़ियां काटने के लिये लुहार को बुलाने दौड़े।

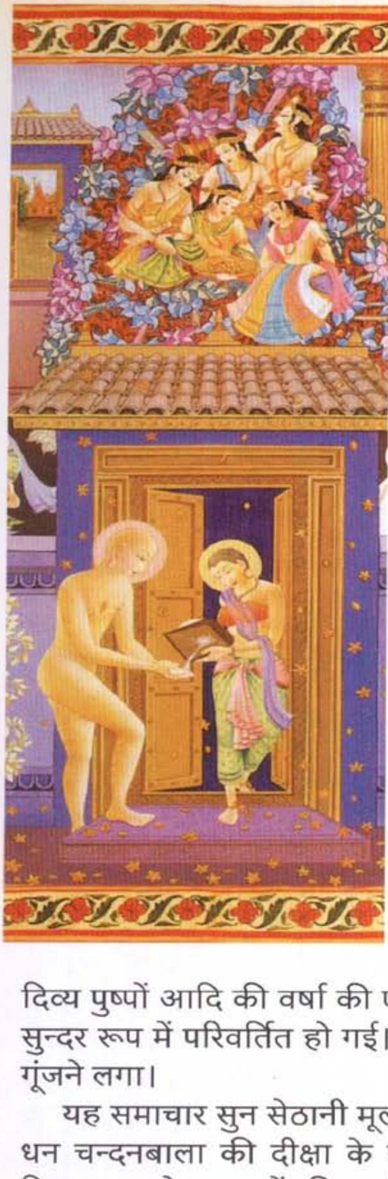

इधर चन्दना भावना भाने लगी कि यदि कोई अतिथि संत आ जाय और उनको आहार दान दूं तो मेरा अहोभाग्य होगा। थोड़ी ही देर में भगवान महावीर अभिग्रह धारण करके भिक्षार्थ विचर रहे थे, वहां पधारे। उनके द्वारा ग्रहित तेरह अभिग्रह इस प्रकार थे - द्रव्य से- 1. उड़द के बाकुले हो, 2. सूप के कोने में हो, क्षेत्र से- 3. दान देने वाली देहली से एक पैर बाहर तथा दूसरा पैर भीतर करके द्वारशाखा के सहारे खड़ी हो, काल से - 4. तीसरे प्रहर में जब भिक्षा का समय समाप्त हो चुका हो, भाव से- 5. बाकुले देने वाली अविवाहिता हो, 6. राजकन्या हो, 7. परन्तु फिर भी बाजार में बिकी हो, 8. सदाचारिणी और निरपराध होते हुए भी उसके हाथों में हथकड़ी हो, 9. पैरों में बेड़ी हो, 10. मुंडा हुआ सिर हो, 11. शरीर पर मात्र काछ पहने हो। 12. तीन दिन की भूखी हो, और 13. आंखों में आंसू हो तो उसके हाथ से मैं भिक्षा लूंगा, अन्यथा छह महीने तक निराहार रहूंगा। पांच महीना और पच्चीस दिन आहार किये बिना बीत चुके थे।

संयोगवश भगवान उधर आ निकले। भगवान के दर्शन करके चन्दनबाला के हर्ष की सीमा न रही। अभिग्रह की अन्य सब बातें मिल गई थी पर एक बात नेत्रों में आंसू की धारा न देखकर वे बिना भिक्षा लौट गए। इस पर चन्दनबाला बड़ी दुःखी हुई-अहो! मैं कितनी अभागिन हूं कि आंगन में आये भगवन्त बिना भिक्षा लिये ही लौट गये। उसके नेत्रों में आंसू की धारा बह निकली। अभिग्रह पूर्ण होने पर प्रभु महावीर पुनः लोटे। हर्षित होकर चन्दना ने भावपूर्वक प्रभु को उड़द के बाकुले बहरा दिये। इस महान् सात्त्विक दान के फलस्वरूप उसी समय देवताओं ने सौनेया व दिव्य पुष्पों आदि की वर्षा की एवं उसकी बेड़ियां स्वयं कट गई और पुनः राजकुमारी सुन्दर रूप में परिवर्तित हो गई। 'अहो दानम्, अहो दानम्' के नाद से समस्त आकश गूंजने लगा।

यह समाचार सुन सेठानी मूला धन को बटोरने के लिए आई तब देववाणी हुई। यह धन चन्दनबाला की दीक्षा के समय काम आयेगा। सेठानी ने चन्दना के चरणों में गिरकर अपने कुकृत्यों की माफी मांगी। कोशाम्बी के राजा व रानी भी वहां आये। कोशाम्बी की रानी चन्दना की मौसी लगती थी अतः वह चन्दनबाला को अपने साथ राजमहल ले गई। जब भगवान महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ तब चन्दनबाला ने दीक्षा ग्रहण की। 36000 मुमुक्षु बहिनें आपकी नेश्राय में दीक्षित हुई।

साध्वी चन्दनबाला ने एक बार कारणवशात् उपाश्रय में विलम्ब से लौटने पर अनुशासन के नाते साध्वी मृगावती को बड़ा उपालम्भ दिया। इसके पश्चात्ताप की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्नि में मृगावती जी ने अपने घनघोर घाति कर्मों को जलाकर उसी रात्रि में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। उसी रात्रि में एक सर्प चन्दनबालाजी की तरफ जा रहा था, तब उन्होंने चन्दनबालाजी का हाथ एक तरफ कर दिया, जिससे उनकी नींद खुल गई और मृगावती जी से इसका कारण पूछा। मृगावती जी ने कहा - सर्प जा रहा था। गुरुणीजी ने पूछा - घोर अंधेरी रात में आपको कैसे पता चला? क्या आपको विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ है?

मृगावती ने कहा- ''हां आपकी कृपा से।''

गुरुणीजी ने पुनः आश्चर्य से पूछा - प्रतिपाति या अप्रतिपाति?

मृगावती जी ने कहा - ''अप्रतिपाति'' (केवलज्ञान)।

यह सुनकर चन्दनबाला जी के मन में बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे स्वयं को धिक्कारने लगी कि मैने ऐसी महान् साध्वीजी को उपालंभ दिया। केवलज्ञानी की आशातना की। पश्चात्ताप करते-करते चंदनबालाजी को भी उसी रात केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। बहुत वर्षों तक संयम पालकर वे सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हुई।

पूणिया श्रावक

एक बार राजा श्रेणिक भगवान महावीर का धर्म उपदेश श्रवण करने गये। उपदेश सुनने के पश्चात राजा ने अपने परभव की पृच्छा की, कि मैं कहां जाऊंगा? सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान ने बताया कि तुम यहां से मर कर नरक में उत्पन्न होवोगे। तुमने अच्छे कार्य भी किये हैं परंतु अच्छे कार्यों के करने के पूर्व ही तुम्हारा नरक आयुष्य बंध चुका है, अच्छे कार्यों के परिणाम स्वरूप तुम आने वाली चौबीसी में पद्मनाभ नाम के प्रथम तीर्थंकर बनोगे।

राजा ने नम्रता पूर्वक विनती की कि भगवान ऐसा कोई उपाया है जिससे मैं नरक गमन से बच जाऊं? भगवान ने कहा कि तुम चार कार्यों में से एक भी कार्य कर सको तो तुम्हारा नरक गमन रूक सकता है। 1. कपिलादासी से दान दिलाना 2. नवकारसी पच्चक्खाण का पालन करना 3. कालसौरिक के कसाई से पशुवध बन्द कराना तथा 4. पूणिया श्रावक की सामायिक मोल लेना। उक्त तीनों बातों में असफल होने पर राजा श्रेणिक श्रावक के घर गये। पूणिया श्रावक भगवान महावीर के परम भक्त, परम संतुष्ट और अति अल्पपरिग्रही थे। रहने के लिए साफ सुथरा सादा मकान। वे प्रति दिन बारह आने की रूई की पुणिया लाते, काटते और सूत बेचकर जो परिश्रमिक मिलता उससे अपना और अपने कुटुम्ब का भरण पोषण करते थे। सदा धर्म चिन्तन में लीन रहते। मन में किसी प्रकार की आकांक्षाएं नहीं थी। सदासंतोषी और सादा जीवन व्यतीत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते थे। वे सूत कातने से बचे समय में सामायिक किया करते थे। सामायिक याने प्राणी मात्र में आत्मानुभूति।

अचानक राजा को अपने घर-आंगन में देख पूणिया प्रसन्न हुआ। प्रसन्नता के साथ उसके मन में भय भी था। वह राजा के आगमन का कारण नहीं समझ पाया। पूणिया कोई इतना बड़ा आदमी नहीं था कि उसके घर राजा आए। वह रूई की पूनियां बनाकर बेचता और उसी से अपने परिवार का निर्वाह करता था। उसने बद्धाजलि होकर पूछा-'महाराज'! आपने अनुग्रह करके मेरी कुटिया को पावन बनाया है। कहिए, मैं आपकी क्या सेवा करूं?

राजा ने कहा-श्रावकजी! मैं एक अति आवश्यक कार्य के लिए आपकी सेवा में आया हूं। श्रावक ने कहा-फरमाईये! श्रेणिक ने कहा-एक साधारण सी बात है। भगवान महावीर ने मेरे नरकगमन रूकने के चार उपाय बताए थे। उनमें से तीन से मैं परास्त हो चुका हूं। अब अन्तिम आपका ही सहारा है, मुझे एक सामायिक मोल दीजिए? जिससे मेरा नरक गमन रूक जाए।

एकदम नई बात सुन पूणिया श्रावक कुछ सोचने लगा तो श्रेणिक ने कहा-आप चिन्ता न करें। मैं आपकी सामायिक मुफ्त में नहीं लूंगा। उसके लिए जितना पैसा लेना चाहो, ले लो। पूणिया बोला-'मेरे पास जो कुछ है, वह आपका ही है। मैं आपके किसी काम आ सकूं, इससे बढ़कर मेरा क्या सौभाग्य होगा।' श्रेणिक सामायिक लेने के लिए तैयार और पूणिया देने के लिए तैयार। किन्तु उसके मूल्य को लेकर समस्या खड़ी हो गई। आखिर दोनों भगवान के पास पहुंचे। श्रेणिक ने भगवान से सामायिक का मूल्य पूछा।

भगवान ने बताया राजन्! तुम्हारा सारा राज्य और स्वर्ण की सर्वराशि जो बावन डूंगरियां, जिनती सम्पत्ति तुम्हारे पास है, वह सर्व एक सामायिक की दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं है। जब दलाली भी पूरी नहीं बनती है, तो मूल्य की बात बहुत दूर है।

दूसरी रीत से समझाते हुए कहा, कोई अश्व खरीदी के लिये जाये, उसकी लगाम की कीमत जितनी तेरी समग्र राजऋद्धि गिनी जाय और अश्व की कीमत तो बाकी ही रहेगी, उसी प्रकार पुणिया श्रावक की सामायिक अमूल्य है। उसकी कीमत नहीं आंकी जा सकती। सामायिक आत्मा की शुद्ध अनुभूति है। जिसका मूल्यांकन भौतिक सम्पत्ति के साथ नहीं किया जा सकता।

अब इस पुणिया श्रावक का जीवन कैसा था वह देखे :

पुणिया श्रावक प्रभु महावीर का यथार्थ भक्त था। वीर की वाणी सुनकर उसने सर्व परिग्रहों का त्याग किया था। आजीविका चलाने के लिए रूई की पूनियां बनाकर बेचता व उसमें से मिलते दो आने से संतोष पाता। वह और उसकी स्त्री दोनों ही स्वामी वात्सल्य करने हेतु एकांतर उपवास करते थे। प्रतिदिन दो की रसोई बनती और बाहर के एक अतिथि साधर्मिक को भोजन कराते। इसलिए एक को उपवास करना पड़ता था। दोनों साथ बैठकर सामायिक करते थे। अपनी स्थिति में संतोष मानकर सुखपूर्वक रहते थे। एक दिन सामायिक में चित्त स्थिर न रहने से श्रावक ने अपनी पत्नि को पूछा, 'क्यों! आज सामायिक में चित्त स्थिर नहीं है। उसका कारण क्या? तुम कुछ अदत्त या अनीति का द्रव्य लाई हो?

श्राविका ने सोचकर कहा, 'मार्ग में गोहरे पड़े थे वह लायी थी। दूसरा कुछ लाई नहीं हूं। पुणिया श्रावक बोला, 'मार्ग में गिरी हुई चीज हम कैसे ले सकते है? वह तो राजद्रव्य गिना जाता है। सो गोहरे वापिस मार्ग पर फेंक देना और अब दुबारा ऐसी कोई चीज रास्ते पर से उठा मत लाना। हमें बेहक्क का कुछ भी नहीं चाहिये।'

धन्य पुणिया श्रावक...जिसके बखान भगवान महावीर ने स्वमुख से किये।

भगवान महावीर का उत्तर सुनकर राजा श्रेणिक अवाक रह गया। मगर राजा को यह तत्त्व समझ में आ गया कि सामायिक की धर्मक्रिया खरीदी नहीं जा सकती। वह अमोल है। धर्म स्वआचरण की वस्तु है। धन्य है पूणिया श्रावक जी को जो पवित्र निर्मल और अति संतुष्ट जीवन जी रहे हैं। वे कितने अल्प परिग्रहधारी है। फिर भी परम सुखी है। समझाते है कि सुख परिग्रह में नहीं है, परंतु इच्छाओं को कम करने में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुलसा श्राविका

कुशाग्रपुर नगर में नाग नाम का रथिक रहता था। वह राजा प्रसेनजित का सेवक था। सुलसा नाम की उसकी भार्या(पत्नि) थी। वह शील सदाचार पतिव्रता और समकित में दृढ़ जिनोपासिका थी। सुखपूर्वक जीवन व्यतीत हो रहा था। किन्तु पुत्र का अभाव था। जिससे चिन्तित रहते थे। सुलसा ने पति को अन्य कुमारिका से लग्न करने का आग्रह किया परंतु रथिक ने अस्वीकार कर दिया। सुलसा ब्रह्मचर्य युक्त आचाम्ल आदि तप करने लगी। सौधर्म देवलोक में देवों की सभा में शकेन्द्र ने कहा - अभी भरत क्षेत्र में सुलसा श्राविका देव गुरू और धर्म की आराधना में निष्ठापूर्वक तत्पर हैं। इन्द्र की बात पर एक देव विश्वास नहीं कर सका। और वह सुलसा की परीक्षा करने चला गया। देव साधु का रूप बनाकर आया। सुलसा उठी, और वंदना की। मुनिराज ने कहा-एक साधु रोगी है। उसके लिए लक्षपाक तेल चाहिए। सुलसा हर्षित हुई। इससे बढ़कर उसका क्या सदुपयोग होगा? वह उठी तेल कुंभ लाने गई। कुंभ हाथ से छूटकर फूट गया। दूसरा कुंभ लाने गई तो वह भी इसी

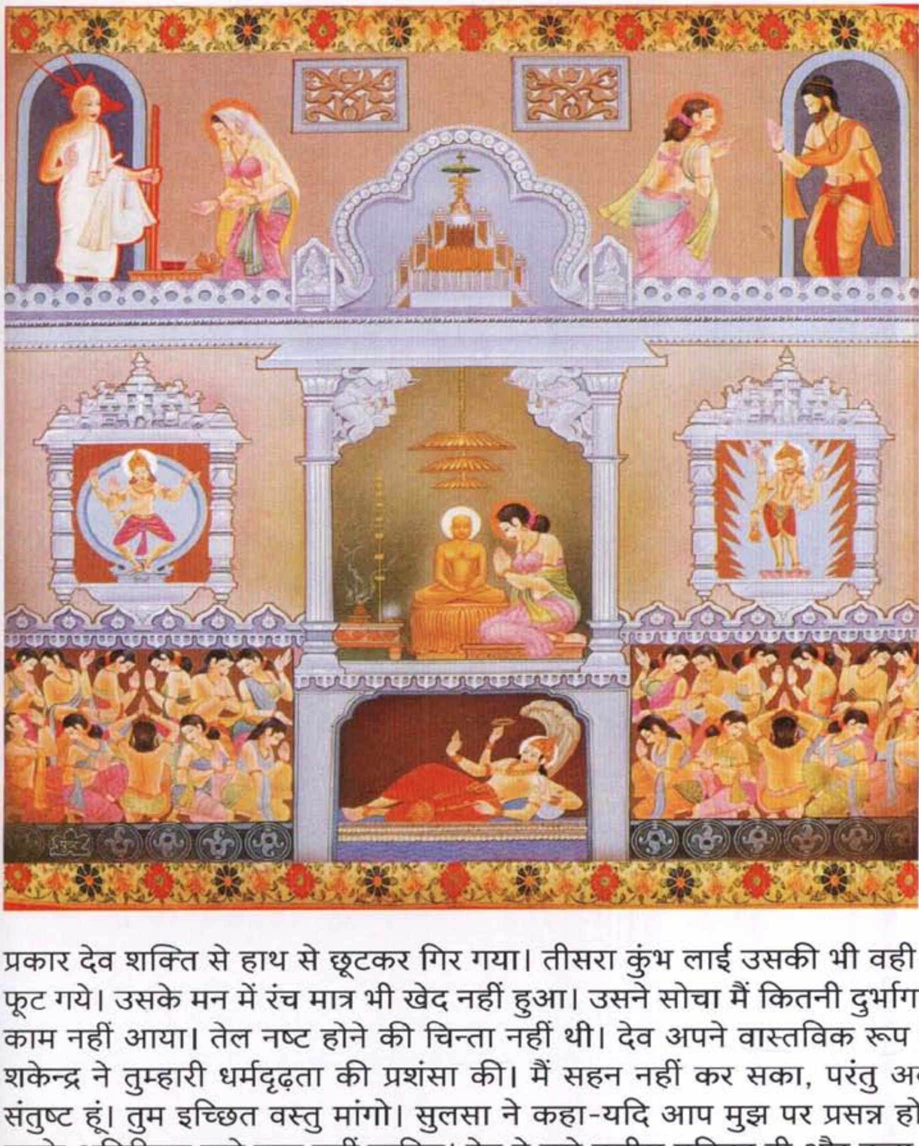

प्रकार देव शक्ति से हाथ से छूटकर गिर गया। तीसरा कुंभ लाई उसकी भी वही दशा हुई। इस प्रकार सात कुंभ फूट गये। उसके मन में रंच मात्र भी खेद नहीं हुआ। उसने सोचा मैं कितनी दुर्भागनी हूं कि मेरा तेल रोगी साधु के काम नहीं आया। तेल नष्ट होने की चिन्ता नहीं थी। देव अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुआ और बोला-भ्रदे! शकेन्द्र ने तुम्हारी धर्मदृढ़ता की प्रशंसा की। मैं सहन नहीं कर सका, परंतु अब मैं तुम्हारी धर्मदृढ़ता देखकर संतुष्ट हूं। तुम इच्छित वस्तु मांगो। सुलसा ने कहा-यदि आप मुझ पर प्रसन्न हो, तो पुत्र दीजिए। मैं अपुत्री हूं। इसके अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं चाहिए। देव ने उसे बत्तीस गुटिका दी और कहा-तू इन्हें एक के बाद दूसरी, इस प्रकार अनुक्रम से लेना। तेरे बत्तीस सुपुत्र होंगे। इसके अतिरिक्त जब तुझे मेरी सहायता की आवश्यकता हो तब मेरा स्मरण करना। मैं उसी समय आकर तेरी सहायता करूंगा। देव अदृश्य हो गया।

सुलसा ने सोचा अनुक्रम से गुटिका लेने पर एक के बाद दूसरा हो और जीवन भर उनका मलमूत्र साफ करती रहूं। इससे तो अच्छा है कि एक साथ सारी गुटिकायें खालूं। जिससे बत्तीस लक्षणवाला पुत्र हो जाए। ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोचकर सब गुटिकाएं निगल गई। उसके गर्भ में बत्तीस जीव उत्पन्न हुए उनका भार सहन करना दुखद हो गया। उसने कार्यात्सर्ग करके देव का स्मरण किया, देव आया, सुलसा की पीड़ा जानकर देव ने कहा-भद्रे! तुझे ऐसा नहीं करना था। अब तू निश्चित रह। तेरी पीड़ा दूर हो जाएगी और तेरे बत्तीस सुपुत्र एक साथ होंगे।

देव ने उसे गूढ़गर्भा कर दिया। शुभ मुहूर्त में बत्तीस लक्षण वाले बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया। ये बत्तीस कुमार यौवन वय प्राप्त होने पर महाराज श्रेणिक के अंगरक्षक बने। ये ही अंगरक्षक श्रेणिक के साथ वैशाली गये और चिल्लनाहरण के समय श्रेणिक की रक्षा करते हुए मारे गये। श्रेणिक को अपने सभी अंगरक्षक मर जाने से खेद हुआ।

यह खबर सुनकर सुलसा दुःख व्यक्त करने लगी तब अभयकुमार ने उसे समझाया कि, समकितधारी होकर तू अविवेकी के भांति क्यों शोक करती है? यह शरीर तो क्षणिक है इसलिये शोक करने से क्या होगा? इस प्रकार धार्मिक रूप से सांत्वना देकर सुलसा को शांत किया।

एक बार चंपानगरी से अंबड परिव्राजक (संन्यासी वेधधारी एक श्रावक) राजगृही नगरी जाने के लिये तैयार हुआ। उसने श्री महावीर स्वामी को वंदना करके विनती की, स्वामी! आज में राजगृही जा रहा हूं। भगवंत बोले, वहां सुलसा श्राविका को हमारा धर्मलाभ कहना। वह वहां से निकलकर राजगृही नगर आ पहुंचा। उसने मन में सोचा, जिसके लिये प्रभु स्वयं अपने मुख से धर्मलाभ कहलवा रहे हैं तो वह वाकई दृढ़धर्मी ही होगी। उसकी धर्म के विषय में स्थिरता कैसी है इस बारे में मुझे उसकी परीक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार के विचार से वह पहले दिन राजगृही के पूर्व दिशा के दरवाजे पर अपने तपोबल से उत्पन्न शक्ति से साक्षात् ब्रह्म का रूप लेकर बैठा। ऐसा चमत्कार देखकर नगर के सर्व लोग दर्शन के लिये आये पर सुलसा श्राविका नहीं आयी। दूसरे दिन दूसरे दरवाजे पर महादेव का रूप धरकर बैठा। वहां भी नगर के सब लोग भक्त बनकर उसके दर्शन के लिये आये लेकिन सुलसा नहीं आयी। तीसरे दिन तीसरी दिशा के दरवाजे पर विष्णु का रूप धरकर बैठा। वहां भी नगर के सब लोग आये पर सुलसा आयी। चौथे दिन चौथे दरवाजे पर समवसरण की रचना की, पच्चीसवें तीर्थंकर का रूप लेकर बैठा। वहां भी दूसरे लोग आये पर सुलसा नहीं आयी, इसलिये उसने कोई मनुष्य के साथ सुलसा को कहलवाया कि तुझे पच्चीसवें तीर्थंकर ने वंदन के लिये बुलवाया है तब सुलसा ने उत्तर दिया, भ्रद! पच्चीसवें तीर्थंकर कभी हो ही नहीं सकते, वह तो कोई कपटी है और लोगों को ठगने के लिये आया है। मैं तो सच्चे तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिवाय दूसरे किसी को वंदन करूंगी नहीं।

अंबड श्रावक को लगा कि यह सुलसा थोड़ी भी चलायमान होती नहीं है वह सच्च में स्थिर स्वभाववाली है, ऐसा जानकर अंबड अब श्रावक का भेष लेकर सुलसा के घर गया। सुलसा की बड़ी प्रशंसा करके बोला, है भद्रे! तू सच्च में पुण्यशाली है क्योंकि भगवंत श्री महावीर स्वामी ने मेरे साथ 'धर्मलाभ' कहलवाया है। इतना सुनते ही वह तुरंत उठ खड़ी हुई और भगवंत को नमस्कार करके स्तवन करने लगी, मोहराजा रूपी पहलवान के बल का मर्दन कर डालने में धीर, पापरूपी कीचड़ को स्वच्छ करने के लिए निर्मल जल जैसे, कर्मरूपी धूल को हरने में एक पवन जैसे, हे महावीर प्रभु! आप सदैव जयवंत रहें। अंबड श्रावक सुलसा को ऐसी दृढ़ धार्मिणी देखकर अनुमोदना करके स्वस्थानक लौटे। सुलसा ने ऐसे उत्तम गुणों से शोभित अच्छे धर्मकृत्य करके स्वर्ग की संपदा प्राप्त की। वहां से इस भरतखंड में अगली चौबीसी में **निर्मम** नामक पन्द्रहवें तीर्थंकर बनकर मोक्षपद प्राप्त होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत पुस्तक तैयार करने में निम्नलिखित ग्रंथों का एवं पुस्तकों का आधार लिया है। अत: उन उन पुस्तकों के लेखक संपादक एवं प्रकाशकों के हम सदा ऋणी रहेंगे।

पुस्तक का नाम		
1.	कल्पसूत्र	
2.	जीव विचार	
3.	नव तत्त्व	
4.	प्रथम कर्मग्रंथ	
5.	जैन धर्म का परिचय	आ. श्री भुवनभानुसूरीश्वरजी म.सा.
6.	जैन धर्म	आ. श्री भद्रगुप्तसूरीश्वरजी म.सा.
7.	तत्त्वज्ञान प्रेरिका	आ. श्री कलापूर्णसूरीश्वरजी म.सा.
8.	जैन दर्शन स्वरुप एवं विश्लेषण	आ. श्री देवेन्द्रमुनिजी म.सा.
9.	व्यसन छोडो जीवन मोडा	आ. श्री देवेन्द्रमुनिजी म.सा.
10.	सुशील सद्‌बोध शतक	आ. श्री जिनोत्तमसूरीश्वरजी म.सा.
11.	जिण धम्मो	आ. श्री नानेश
12.	श्रावक धर्म दर्शन	श्री पुष्करमुनिजी म.सा.
13.	अभिनंदन ग्रंथ (भाग - 6)	डॉ. सागरमलजी
14.	कर्म सहिता	साध्वीजी श्री युगलनिधि म.सा.
15.	आदर्श संस्कार शिविर (भाग - 1,2)	आदिनाथ जैन ट्रस्ट
16.	जैन धर्म के चमकते सितारे	वरजीवनदास वाडीलाल शाह
17.	तीर्थंकर भगवान श्री महावीर	आ. श्री यशोदेवसूरिजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

✻ परीक्षा के नियम ✻

परीक्षा में भाग लेनेवाले विद्यार्थियों को फॉर्म भरना आवश्यक हैं। कम से कम 20 परीक्षार्थी होने पर परीक्षा केन्द्र खोला जा सकेगा।

✻ पाठ्यक्रम : भाग 1 से 6 तक

✻ योग्यता : ज्ञानार्जन का अभिलाषी

✻ परीक्षा का समय : जनवरी, जुलाई

✻ श्रेणी निर्धारण

विशेष योग्यता : 75% से 100%

प्रथम श्रेणी : 60% से 74%

द्वितीय श्रेणी : 46% से 59%

तृतीय श्रेणी : 35% से 45%

✻ परीक्षा फल (Results) : परीक्षा केन्द्र पर उपलब्ध रहेगा
www.adinathjaintrust.com

✻ प्रमाण पत्र : संबंधित परीक्षा केन्द्रों पर प्रमाण पत्र भिजवाए जाएंगे।

1. Certificate Degree
2. Diploma Degree

✻ पारितोषिक : प्रत्येक परीक्षा में प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा प्रोत्साहन पुरस्कार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब कुछ तुम्हारी पात्रता पर निर्भर है...

अगर तुम्हारा पात्र भीतर से बिल्कुल शुद्ध हैं, निर्मल हैं, निर्दोष हैं, तो जहर भी तुम्हारे पात्र में जाकर निर्मल और निर्दोष हो जाएगा। और अगर तुम्हारा पात्र गंदा हैं, कीड़े - मकोड़ों से भरा हैं और हजारों साल से जिंदगी की गंदगी इकठी हैं- तो अमृत भी डालोगे तो जहर हो जाएगा। सब कुछ तुम्हारी पात्रता पर निर्भर हैं।

अंततः निर्णायक यह बात नहीं हैं कि जहर हैं या अमृत, अंततः निर्णायक बात यही हैं कि तुम्हारे भीतर स्थिति कैंसी हैं। तुम्हारे भीतर जो हैं, वही अंततः निर्णायक होता हैं।

तुम जैंसा जगत को स्वीकार कर लोगे, वैंसा ही हो जाता हैं। यह जगत तुम्हारी स्वीकृति से निर्मित हैं। यह जगत तुम्हारी दृष्टि का फैंलाव हैं। तुम जैंसे हो, करीब-करीब यह जगत तुम्हारे लिए वैंसा ही हो जाता हैं। तुम अगर प्रेमपूर्ण हो तो प्रेम की प्रतिध्वनि उठती हैं। और तुमने अगर परमात्मा को सर्वांग मन से स्वीकार कर लिया हैं, सर्वांगीण रुप से - तो फिर इस जगत में कोई हानि तुम्हारे लिए नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org